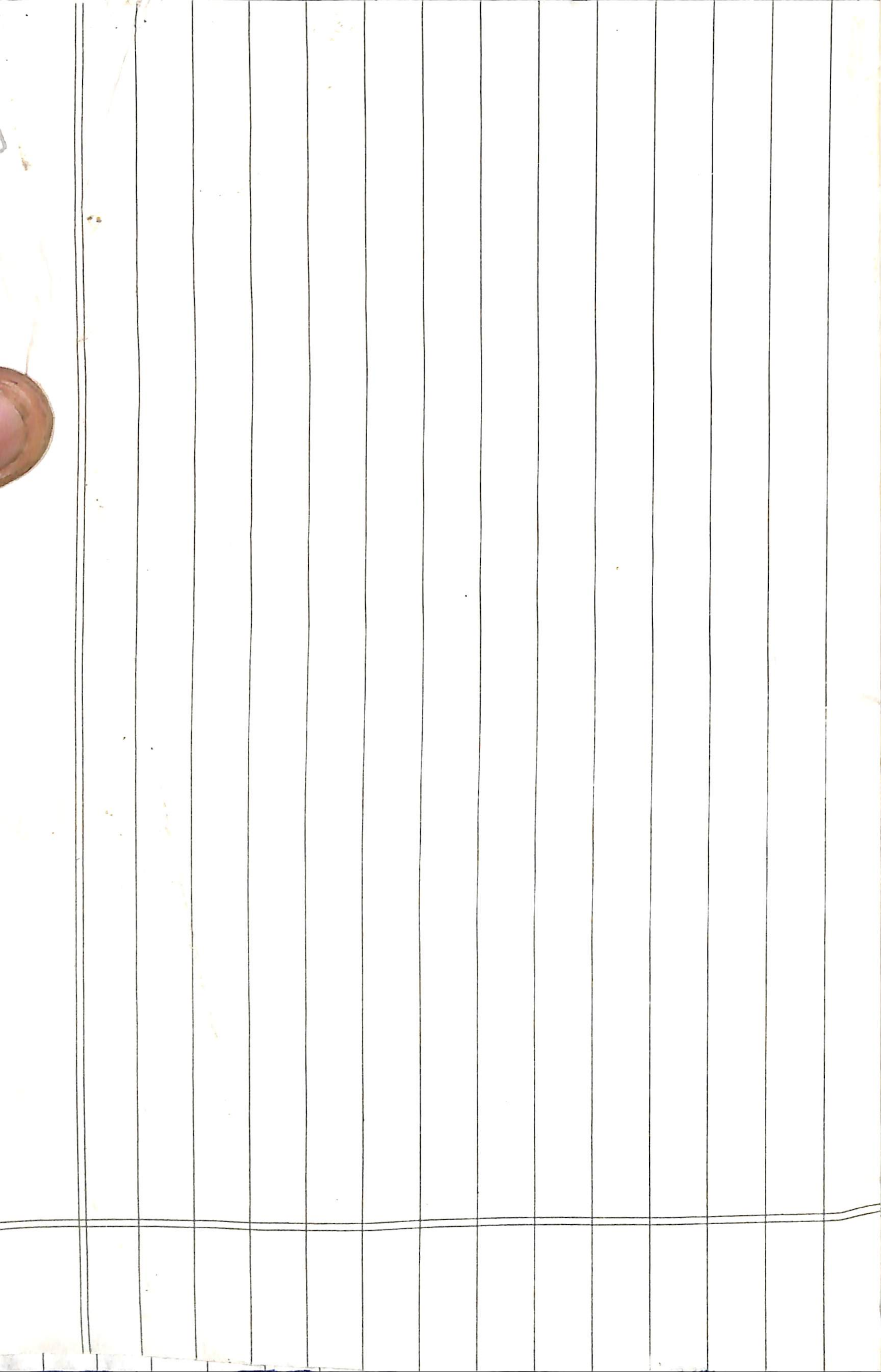


पालि-प्रवेशिका

डा० कोमलचन्द्र जैन

एम० ए०, पी-एच० डी०, जैनदर्शनाचार्य, प्राकृताचार्य

संस्कृत-पालि विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

तारा पब्लिकेशन्स

कमच्छा, वाराणसी

१९८०

प्रकाशक
तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी

द्वितीय संस्करण, १९८०
मूल्य : १० रुपये

मुद्रक
तारा प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी

सागर मण्डलान्तर्गत

बीना-इटावा निवासी

पूज्य बड़े भाई

श्री बाबूलाल जैन

को सादर

समर्पित

संकेत-विवरण

क०—कच्चायन-व्याकरण

गायगर—Pali Literature and Language

तु०—तुलना कीजिए

द्र०—द्रष्टव्य

पा०—पाणिनि कृत अष्टाध्यायी सूत्रपाठ

पालि०—पालिमहाव्याकरण

पि०—पिशल कृत Comparative Grammar of The Prakrit Languages

पृ०—पृष्ठ

बृह०—बृहद्धातुरूपावलिः

मो०—मोग्गल्लान-व्याकरण

वर०—वररुचि कृत प्राकृत-प्रकाश

वा०—वार्तिक

सं०—संख्या

हे०—हेमचन्द्र कृत प्राकृत-व्याकरण

PTS—Pali Text Society

JPTS—Journal of the Pali Text Society.

———

विषय-सूची

अनुपिटक-साहित्य

अर्थ (अट्ठ) कथा-साहित्य

काव्य-साहित्य

वंश-साहित्य

भूमिका

पालि-साहित्य भारतीय वाङ्मय की अमूल्य सम्पदा है। अन्धकार से ढके हुए भारतीय इतिहास को सर्व प्रथम पालि-साहित्य ने ही प्रकाशित किया। यदि पालि-साहित्य न होता तो ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी से ईसा तक के भारत का इतिहास लुप्त हो गया होता। इसके अतिरिक्त यही साहित्य भगवान् बुद्ध एवं उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म एवं संस्थापित संघ की प्रामाणिक जानकारी देता है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि भारतीय संस्कृति का ज्ञान पालि-साहित्य के ज्ञान के विना अधूरा है।

एक समय था जब किसी साहित्य को जानने के लिए पहले उसकी भाषा का व्याकरण पढ़ा जाता था। व्याकरण का ज्ञान प्राप्त करने के बाद भाषा सीखी जाती थी। तब कहीं उस भाषा के साहित्य का ज्ञान प्राप्त किया जाता था। किन्तु आज के युग में यह न तो सम्भव है और न ही इष्ट। आज तो व्यावहारिक व्याकरण के सहारे भाषाविशेष एवं उसके साहित्य को पढ़ने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए आज से लगभग सात साल पहले आदरणीय डा० सिद्धेश्वर भट्टाचार्य की प्रेरणा से लिखी गई इस पुस्तक का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ था। चूंकि प्रथम संस्करण समाप्त हो गया है, अतः यह कहना अनुचित न होगा कि यह पुस्तक अपने प्रयोजन में बहुत-कुछ सीमा तक सफल रही है।

आजकल 'पालि' शब्द से एक प्राचीन भारतीय आर्यभाषा का बोध होता है। भाषा-विज्ञानवेत्ताओं ने इसे मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं के प्रथम युग की महत्त्वपूर्ण भाषा मानी है। वे पालि के पूर्व वैदिक एवं लौकिक संस्कृत के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। यह भाषा बौद्ध धर्म के प्राचीनतम सम्प्रदाय स्थविरवाद के आगमों में (जिन्हें पालि त्रिपिटक कहा जाता है) तथा तन्मूलक साहित्य में आज भी दृष्टिगोचर होती है।

स्थविरवादी परम्परा के अनुसार भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश बोल-चाल की भाषा में दिए थे। उनके उपदेशों में आडम्बर नहीं रहता था। वे (उपदेश) भाषा एवं शैली दोनों ही दृष्टियों से इतने सरल एवं स्वाभाविक होते थे कि उन्हें साधारण नर-नारी से लेकर विशिष्ट व्यक्ति तक सभी समान श्रद्धा से ग्रहण करते थे। भगवान् बुद्ध की इच्छा थी कि उनके अनुयायी उनके धर्मोपदेशों को सुविधानुसार अपनी-अपनी भाषा में सीखें। वे यह कदापि नहीं चाहते थे कि उनके उपदेशों को पवित्र एवं श्रेष्ठ मानी जाने वाली भाषा में परिवर्तित कर उन्हें भाषागत श्रेष्ठता का जामा पहनाया जाय।

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद बौद्ध भिक्षुओं ने उनके उपदेशों को सुरक्षित रखने के लिये पर्याप्त [सतर्कता अपनायी। उनके परिनिर्वाण के तत्काल बाद बड़े-बड़े स्थविर भिक्षुओं की एक संगीति बुलाने का निश्चय किया गया। यह संगीति राजगृह में हुई। सौ वर्ष बाद वैशाली में इसी तरह की दूसरी एवं राजा अशोक की प्रेरणा से पाटलिपुत्र (पटना) में तीसरी संगीति हुई। इन तीनों संगीतियों में त्रिपिटक का संकलन एवं संगायन किया गया। तीसरी संगीति के बाद विभिन्न देशों में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए विभिन्न भिक्षुओं को भेजा गया। इसी प्रसंग में राजा अशोक के पुत्र स्थविर महेन्द्र ने लंका जाकर वहाँ बोद्ध धर्म का प्रचार किया। ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में लंका के तत्कालीन राजा वट्टगामणि अभय ने बुद्ध के धर्मोपदेशों को चिरस्थायी बनाने के लिये उन्हें लिपिबद्ध करा दिया।

भारत में भी त्रिपिटक के संकलन के तुरन्त बाद भिक्षुओं ने त्रिपिटकमूलक भाष्यात्मक एवं काव्यात्मक साहित्य लिखना प्रारम्भ कर दिया किन्तु जब बौद्ध धर्म के अन्य सम्प्रदायों द्वारा स्थविरवादियों को भारत से बाहर जाने के लिए विवश किया गया तो वे लंका के विहारों में जा बसे। फलतः लंका के विहार स्थविरवादियों के प्रमुख गढ़ बन गए। पालि-साहित्य में यत्र-तत्र यही लोग 'पोराणा' शब्द से अभिप्रेत हैं। कालान्तर में भिक्षुओं में काव्यात्मक साहित्य लिखने की प्रवृत्ति का विकास हुआ और यह प्रवृत्ति बुद्ध धर्म एवं संघ पर जाकर केन्द्रित हो गई। तत्पश्चात् व्याकरण, अलंकार, कोश आदि के भी ग्रन्थ लिखे गए।

इस प्रकार पालि-साहित्य की धारा, जिसका उद्गम भगवान् बुद्ध के उपदेशों से हुआ था, आजतक अविच्छिन्न रूप से बहती चली आ रही है। भारत से स्थविरवादियों के चले जाने से अधिकांश पालि-ग्रन्थों का लेखन लंका में तथा कुछ का बरमा में हुआ। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जैसे-जैसे पालि साहित्य की धारा आगे बढ़ी, वैसे-वैसे वह संस्कृत की धारा के समीप आती गई। यही कारण है कि ९-१० वीं शताब्दी से आज तक के पालि-साहित्य के ग्रन्थों पर भाषा, भाव एवं शैली की दृष्टि से संस्कृत-साहित्य के ग्रन्थों का बढ़ता हुआ प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

पालि-साहित्य के उद्भव के उक्त संक्षिप्त विवरण के बाद पाठकों के लिए पालि शब्द की व्युत्पत्ति, पालिभाषा का उद्गम स्थल एवं पालि-साहित्य का संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक है।

व्युत्पत्ति[1]—पालि शब्द की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से की जाती है जिनमें कुछ इस प्रकार हैं—(१) परियाय (बुद्धोपदेश) > पलियाय > पालियाय > पालि; (२)

---

१. द्रष्टव्य—(क) पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ३-९
(ख) पालि-महाव्याकरण; पृ० ३-१२ (भूमिका)

पाठ (वेदपाठ की भाँति बुद्धोपदेशों का पाठ) > पाळ > पाळि > पालि; (३) प्राकृत (जनसाधारण की भाषा) > पाकट > पाअड > पाअल > पालि; (४) पङ्क्ति (मूल ग्रन्थ की पंक्ति) > पन्ति > पत्ति > पट्ठि > पल्लि > पालि; (५) पल्लि (ग्रामीण भाषा) > पालि; (६) पाटलि (पाटलिपुत्र की भाषा) > पाडलि > पाअलि > पालि। इन व्युत्पत्तियों में से पहली व्युत्पत्ति को ही साधारणतया उचित माना जाता है, क्योंकि यह ऐतिहासिक उद्धरणों एवं भाषा-विज्ञान के नियमों के अनुकूल है। इस प्रकार प्रारम्भ में पालि शब्द का अर्थ बुद्धोपदेश तथा पालि भाषा का अर्थ बुद्धोपदेशों का भाषा था। बाद में पालि भाषा को ही पालि शब्द से कहा जाने लगा।

उद्गम स्थल[1]—पालि मूलतः किस प्रदेश की भाषा थी ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। इस विषय में अनेक विद्वानों ने अपने-अपने मत व्यक्त किए हैं। उन सभी मतों को स्थूलरूप से तीन विभागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम विभाग में ऐसे मतों को रखा जा सकता है जिनमें पालि भाषा को किसी प्रदेशविशेष के बोल-चाल की बोली सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। दूसरे विभाग में उन सभी मतों का समावेश किया जा सकता है जो बुद्ध-वचनों की भाषा (पालि) को अनेक भाषाओं के सम्मिश्रण से बनी मागधीमूलक विशुद्ध साहित्यिक भाषा बतलाते हैं। अन्तिम विभाग में उन मतों की गणना की जा सकती है जो बुद्ध-वचन की भाषा को किसी अन्य भारतीय भाषा का अनुवादमात्र मानते हैं।

प्रथम विभाग में जितने भी मत हैं वे सभी एक-दूसरे से भिन्न है तथा अलग-अलग प्रान्तों की भाषा सिद्ध करते हैं। उदाहरणार्थ—रीज डेविड्स के मतानुसार पालि भाषा कोशल प्रदेश की भाषा थी; वैस्टर गार्ड तथा ई० कुङ्ह इसे उज्जयिनी की भाषा मानते हैं; फ्रेंक इसका उद्गम विंध्य प्रदेश बतलाते हैं तथा ओल्डनवर्ग इसे कलिंग प्रदेश की भाषा मानते हैं। पालि को प्रदेशविशेष की बोली मानने वाले सभी व्यक्तियों ने अपने मत की पुष्टि के लिए अलग-अलग तर्क प्रस्तुत किए हैं जो किसी न किसी दृष्टि से सत्य भी हैं।

द्वितीय विभाग में जिन व्यक्तियों ने अपने मत प्रस्तुत किए हैं, उनमें जेम्स एल्विस, चाइल्डर्स, विन्टरनित्ज, ग्रियर्सन एवं गायगर के मत प्रमुख हैं। इनमें से प्रथम दो व्यक्तियों ने पालि का मौलिक रूप मागधी भाषा बतलाया है। विन्टरनित्ज ने पालि

---

१. **द्रष्टव्य—(क)** History Of Indian Literature vol. II pp. 601-605

(ख) Pali Literature And Language. pp. 1-7

(ग) **पालि साहित्य का इतिहास, पृ० १२-२८**

(घ) **पालि-महाकाव्याकरण, पृ० ४-६ (भूमिका)**

को अनेक भाषाओं के सम्मिश्रण से बनी मागधीमूलक साहित्यिक भाषा बताया है। ग्रियर्सन ने पालि का मूल विशुद्ध मागधी न मानकर किसी पश्चिमी बोली को माना है। गायगर पालि को मागधी भाषा का वह रूप मानते हैं जो सभ्य व्यक्तियों में प्रयुक्त होता था। ऐसा ही मत भारतीय विद्वान् भिक्षु जगदीश काश्यप का भी है। इस विभाग में रखे जाने वाले मतों को सरसरी दृष्टि से देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि पालि जन-साधारण के बोलचाल की बोली न होकर शिष्ट व्यक्तियों द्वारा प्रयुक्त भाषा या साहित्यिक भाषा थी।

अन्तिम विभाग में लूडर्स, सिलवाँ लेवी एवं बापट के मत प्रमुख हैं। लूडर्स के मतानुसार पालि-त्रिपिटक पहले अर्धमागधी प्राकृत में था, बाद में उसका अनुवाद वर्तमान पालि में कर लिया गया। सिलवाँ लेवी के मतानुसार पालि त्रिपिटक पूर्ववर्ती मागधी बोली का अनूदित रूप है। बापट के मतानुसार पालि त्रिपिटक का आधार जैन अर्धमागधी है, न कि अर्धमागधी।

प्रथम विभाग के मत अंशतः सत्य होते हुए भी ग्राह्य नहीं हैं। कारण, पालि यदि वास्तव में किसी प्रदेश की भाषा थी तो वह केवल बौद्धों के स्थविरवाद सम्प्रदाय के साहित्य में ही सीमित होकर क्यों रह गई तथा पालि त्रिपिटक में भाषागत एकरूपता क्यों है[1] इत्यादि प्रश्नों का समुचित समाधान प्राप्त नहीं होता। यही कारण है कि इस मत के पोषक विद्वानों में स्थान-निर्धारण के प्रश्न को लेकर गम्भीर मतभेद रहा है।

द्वितीय एवं तृतीय विभाग के मत पालि को बोल-चाल की बोली नहीं मानते हैं। द्वितीय विभाग में पालि को सामान्यतया साहित्यिक या वर्ग विशेष की भाषा माना गया है जब कि तीसरे विभाग के मतों में पालि त्रिपिटक की भाषा के मूल को खोजने का प्रयास किया गया है।

यदि भगवान् बुद्ध के समय ही उनके उपदेशों को अन्य भाषा में बदलने का आग्रह, संगीतियों में नाना प्रदेशों के भिक्षुओं का सम्मिलित होना, महेन्द्र द्वारा, जिनकी मातृभाषा उज्जयिनी प्रदेश की भाषा थी, लंका में त्रिपिटक का ले जाना तथा शताब्दियों बाद त्रिपिटक का लिपिबद्ध होना आदि तथ्यों को अनदेखा न किया जाय तो कहा जा

---

१. यहाँ यह स्मरणीय है कि पालि-त्रिपिटक में प्रत्येक व्यक्ति के कथन में एक जैसी भाषा का ही प्रयोग किया गया है। किन्तु उस समय वेदों के ज्ञाता ब्राह्मण संस्कृत का, स्त्री-बच्चे प्राकृत का तथा हीन वर्ग के व्यक्ति मागधी का प्रयोग करते थे। स्थान भेद से भी भाषा में भेद होना चाहिए किन्तु पालि-त्रिपिटक में वाराणसी, राजगृह, कपिलवस्तु आदि दूर-दूरवर्ती स्थानों के सामान्य जनों को भी भगवान् बुद्ध से जिस भाषा में बातचीत करते दिखाया गया है, उसमें एकरूपता है।

सकता है कि पालि भाषा कभी भी किसी प्रदेश में बोल-चाल की भाषा नहीं रही है। यह एक ऐसी कृत्रिम साहित्यिक भाषा है जो अनेक बोल-चाल की भाषाओं को संस्कृतभाषानुगामी रूप देने से बनी है, यद्यपि इसका मुख्य आधार मागधी प्राकृत है।

साहित्य—पालि-साहित्य के ग्रन्थों को मुख्य रूप से छः विभागों में विभक्त किया जा सकता है—

१. त्रिपिटक, २. अनुपिटक, ३. अट्ठकथा, ४. काव्य, ५. वंश, ६. व्याकरण, छन्दःशास्त्र, कोश आदि।

१. त्रिपिटक—

(क) **विनयपिटक**—पाराजिक, पाचित्तिय, महावग्ग, चुल्लवग्ग एवं परिवार।

(ख) **सुत्तपिटक**—दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुत्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय एवं खुद्दकनिकाय के पन्द्रह ग्रन्थ—खुद्दकपाठ, धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक, निद्देस, पटिसम्भिदामग्ग, अपदान, बुद्धवंस, चरियापिटक।

(ग) **अभिधम्मपिटक**—धम्मसङ्गणी, विभङ्ग, धातुकथा, पुग्गलपञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक, पट्ठान।

२. अनुपिटक—नेत्तिप्पकरण, पेटकोपदेस, मिलिन्दपञ्ह।

३. अट्ठकथा—समन्तपासादिका (विनय), कङ्खावितरणी (पातिमोक्ख), सुमङ्गलविलासिनी (दीघनिकाय), पपञ्चसूदनी (मज्झिमनिकाय), सारत्थप्पकासिनी (संयुत्तनिकाय), मनोरथपूरणी (अंगुत्तरनिकाय), परमत्थजोतिका (खुद्दकपाठ, सुत्तनिपात) आदि।

४. काव्य—जिनालंकार, जिनचरित, पज्जमधु, तेलकटाहगाथा सद्धम्मोपायन, पञ्चगतिदीपन. लोकनीति आदि।

५. वंश—दीपवंस, महावंस, महाबोधिवंस, दाठावंस, सासनवंस अनागतवंस गन्धवंस आदि।

६. व्याकरण, छन्दःशास्त्र, कोश आदि—

(क) **व्याकरण**—कच्चायनव्याकरण, मोग्गल्लानव्याकरण, रूपसिद्धि, सद्दनीति, बालावतार, महानिरुत्ति, चूलनिरुत्ति आदि।

(ख) **छन्दःशास्त्र**—वुत्तोदय।

(ग) **अलंकारशास्त्र**—सुबोधालंकार।

(घ) **कोश**—अभिधानप्पदीपिका, एकक्खरकोस, सद्दत्थरतनावली।

पालि-प्रवेशिका के प्रस्तुत द्वितीय संस्करण में तेईसवें पाठ 'दृष्टिदोषः' के स्थान पर 'सुमेधपण्डितस्य चिन्तनम्' को रखा गया है। इसके साथ ही काव्य-साहित्य एवं वंश-साहित्य के पाठों को ऐतिहासिक दृष्टि से क्रमवद्ध कर दिया गया है। आशा है विद्यार्थी इससे किसी भ्रम में नहीं पड़ेंगे। इसके अतिरिक्त प्रत्येक खण्ड एवं पाठ के नीचे उनकी विस्तृत परिचयात्मक टिप्पणियां भी दे दी गई हैं जो कि प्रथम संस्करण में नहीं थीं।

अन्त में मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत-पालि विभाग के अध्यक्ष श्रद्धेय डा० विश्वनाथ भट्टाचार्य के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हुँ जिनके अमूल्य सुझाव एवं सहयोग से मैं प्रस्तुत संस्करण को अधिक उपयोगी बना सका। प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम संस्करण को जिन विद्वानों ने एवं पाठकों ने चाहा है और सराहा है, उनके प्रति भी मैं आभार प्रकट करता हूँ। प्रकाशकों को भी धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने इस संस्करण को यथासमय प्रकाशित किया।

कोमलचन्द्र जैन

प्लाट नं० १३३/१३४ ए
रवीन्द्रपुरी, वाराणसी-५
१-८-८०

आधार-ग्रन्थ-सूची

अङ्गुत्तरनिकायपालि—नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला, बिहार, १९६०
अष्टाध्यायी सूत्रपाठः—वृन्दावन गुरुकुल विश्वविद्यालय, सं० १९९६
कच्चायन व्याकरण—तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९६२
खुद्दकनिकायपालि—नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला, बिहार, १९५९
चुल्लवंस (खण्ड २)—PTS, London, 1927
छकेसधातुवंस—JPTS, London, 1885
जातकट्ठकथा—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५१
जिनचरित—JPTS, London, 1904
जिनालङ्कार—J. A. Helenis Perera of Nedimala, GALLE, 1900
तेलकटाहगाथा—JPTS, London, 1884
दाठावंस—मोतीलाल बनारसीदास, लाहोर, १९२५
दीघनिकायपालि—नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला, बिहार, १९५८
धम्मपदट्ठकथा (Vol. I)—PTS, London, 1909
धम्मपदट्ठकथा (Vol. III)—PTS, London, 1912
पज्जमधु—JPTS, London, 1887
पञ्चगतिदीपन—JPTS, London 1884
परमत्थदीपिनी (थेरगाथा की अट्ठकथा)—PTS, London, 1952
परमत्थदीपिनी (थेरीगाथा की अट्ठकथा)—PTS, London, 1893
पालिमहाव्याकरण—मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1963
पालि साहित्य का इतिहास—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००८
प्राकृत-प्रकाश—The Adyar Library, Madras, 1946
प्राकृत-प्रवेशिका—तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी; १९७१
प्राकृत-व्याकरण—भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टिटयूट, पूना, १९५८
बृहद्धातुरूपावलिः—Trivandrum, 1924
भाषा-विज्ञान—किताब महल, इलाहाबाद, १९५१
मनोरथपूरणी (Vol. II)—PTS, London, 1930
महाबोधिवंस—PTS, London, 1891
महावंस—Bombay University Publications, Bombay, 1959
मिलिन्दपञ्ह—Bombay University Publications, Bombay. 1960

मोग्गलान व्याकरण—वि० वैदिक शोध संस्थान, होशिआरपुर, १९६५

लोकनीति—धर्मोदय सभा, लुम्बिनी, नेपाल, १९७३

संयुत्तनिकायपालि—नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला, बिहार, १९५९

सद्धम्मोपायन—JPTS, London, 1887

सासनवंस—नवनालन्दा-महाविहार-ग्रन्थमाला, नालन्दा, पटना, १९६१

समन्तपासादिका (तीन खण्ड)—नवनालन्दा-महाविहार-ग्रन्थमाला, नालन्दा, पटना, १९६४-१९६७

सुमङ्गलविलासिनी (दो खण्ड)—नवनालन्दा-महाविहार-ग्रन्थमाला, नालन्दा, १९७४, १९७५

Comparative Grammar Of Thc Prakrit Language—Motilal Banarasidas, Varanasi, 1957

History Of Indian Literature, Vol. II.—Oriental Books Reprint Corporation 54, Rani Jhansi Road, New Delhi-55.

Pali Literature And Language—University of Calcutta, Calcutta, 1956

—: o :—

भाग : १

व्याकरण

पहला अध्याय

वर्ण-परिचय

१. स्वर[1]

हृस्व—अ इ उ ए[2] ओ[2]

दीर्घ—आ ई ऊ ए ओ

२. सरल व्यञ्जन[3]

क	ख	ग	घ	ङ
च	छ	ज	झ	ञ
ट	ठ	ड	ढ	ण
त	थ	द	ध	न
प	फ	ब	भ	म
य	र	ल	व	
स	ह	ळ[4]	अं[5]	

३. संयुक्त व्यञ्जन[6]

क्क	क्ख	ग्ग	ग्घ	ङ्क	ङ्ख	ङ्ग	ङ्घ	
च्च	च्छ	ज्ज	ज्झ	ञ्च	ञ्छ	ञ्ज	ञ्झ	ञ्ञ
ट्ट	ट्ठ	ड्ड	ड्ढ	ण्ट	ण्ठ	ण्ड	ण्ढ	ण्ण
त्त	त्थ	द्द	द्ध	न्त	न्थ	न्द	न्ध	न्न
प्प	प्फ	ब्ब	ब्भ	म्प	म्फ	म्ब	म्भ	म्म
य्य	ल्ल	स्स						

---

१ मो० १.२ । २. संयुक्त व्यञ्जन से पूर्ववर्ती **ए** तथा **ओ** हृस्व स्वर होते हैं, मो० १.४; तु०—हे० १.८४; किन्तु कच्चायन के मतानुसार **ए** तथा **ओ** केवल दीर्घ स्वर के रूप में होते हैं, क० १.१.३—५ । ३. मो० १.६; क १.१. ६ । ४. ळ एक वैदिक व्यञ्जन है । यह लौकिक संस्कृत में अनुपलब्ध है; किन्तु पैशाची एवं चूलिका पैशाची नामक प्राकृतों में दृष्टिगोचर होता है, द्र०—पि० २६० । ५. संस्कृत के अनुस्वार को पालि में निग्गहीत (निर्गृहीत) कहते हैं, पा० ८.३.२३ की वृत्ति; क० १.१.८; मो० १.८ । ६. गायगर २.१, पि० १७० तथा आगे ।

४. अन्य संयुक्त व्यञ्जन

(१) वर्गीय व्यञ्जन+अन्तःस्थ, जैसे—क्य, क्व, ख्य, त्त, त्व आदि ।[1]

(२) अन्तःस्थ+अन्तःस्थ, जैसे—ल्य, व्य ।[2]

(३) अनुनासिक+ह, जैसे—ञ्ह, ण्ह, न्ह, म्ह ।[3]

(४) अन्तःस्थ+ह, जैसे—य्ह, ल्ह, व्ह ।[4]

(५) ऊष्म (स)+अन्तःस्थ (या अनुनासिक), जैसे—स्व, स्न, स्म, त्म ।[5]

---

१. गायगर ५३.३ । २. वही, ५४.४ । ३-४., वहो, ४९ । ५. वही ५०, ५४.४ ।

दूसरा अध्याय

स्वर-परिवर्तन

संस्कृत के चार स्वर (ऋ, लृ, ऐ तथा औ) पालि में प्रयुक्त नहीं होते हैं। उनके बदले में निम्नलिखित स्वरों का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है—

१. ऋ[1] > अ, ऋक्षः=अच्छो, वृकः=वको।
> इ, ऋणम्=इणं, वृश्चिकः=विच्छको।
> उ, ऋजुः=उजु, मृणालम् = मुळालं।
> अ, इ; मृगः = मगो, मिगो; कृष्णः = कण्हो, किण्हो।
> इ, उ; पितृपक्षतः=पितिपक्खतो, पितृघातकः=पितुघातको।

१.१ ऋ[2] > रु, वृक्षः = रुक्खो, प्रावृतः=पारुतो।
२. लृ > उ, क्लृप्तम्=कुत्तं।[3]
३. ऐ > इ ऐश्वर्यम्=इस्सरियं, सैन्धवः=सिन्धवो।[4]
> ए, ऐरावणः=एरावणो, मैत्री=मेत्ती।[5]

४. औ > उ, औत्सुक्यम्=उस्सुक्कं, रौद्रम्=लुद्दं।[6]
> ओ, औरसः=ओरसो, औदुम्बरम्=ओदुम्बरं।[7]

५. स्वर-परिवर्तनमूलक प्रवृत्तियाँ

संस्कृत के अन्य स्वर भी पालि में आकर बदल जाते हैं जिसके मूल में सामान्यतया निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ मुख्य हैं—

१. ह्रस्व स्वरों का दीर्घीकरण
२. दीर्घ स्वरों का ह्रस्वीकरण

---

१. समीपस्थ वर्ण का प्रभाव, गायगर १२, पि० ४८-५१। २. गायगर १३, हे० २.१२७। ३. गायगर १४। ४. ६. संयुक्तव्यञ्जन के पूर्ववर्ती ऐ तथा औ (जो कि इ तथा उ से बने हों) ह्रस्वीकरण में इ तथा उ में बदल जाते हैं, गायगर १५, तु०—हे० १.१६०। ५.७. गायगर १५ पि० ६०,६१ ए, हे० १.१४८, १५९।

३. समीपस्थ स्वर का प्रभाव

४. बलाघात का प्रभाव

५. सम्प्रसारण

६. छन्द-रचना

७. स्वर-लोप

५.१ ह्रस्व स्वरों का दीर्घीकरण

(१) ह्रस्व स्वर + संयुक्त व्यञ्जन = दीर्घ स्वर + असंयुक्त व्यञ्जन।[1]
सर्षपः = सासपो, वल्कम् = वाकं, निर्याति = नीयाति।

(२) अ स्वर युक्त उपसर्ग + शब्द = आ स्वर युक्त उपसर्ग + शब्द।[2]
अनुभावः = आनुभावो, प्रकटम् = पाकटं।

(३) सानुस्वार ह्रस्व स्वर + र या ऊष्म = दीर्घ स्वर + र या ऊष्म।[3]
विंशतिः = वीसति, सिंहः = सीहो, संरम्भः = सारम्भो।

(४) समस्त पद में प्रथम पद का अन्तिम ह्रस्व स्वर + द्वितीय पद = प्रथम पद का अन्तिम दीर्घ स्वर + द्वितीय पद।[4]
सम्यग्धर्म = सम्म + धम्मं = सम्माधम्मं, तरत्योघम् = तरति + ओघं = तरती-ओघं।

५.२ दीर्घ स्वरों का ह्रस्वीकरण

(१) दीर्घ स्वर + संयुक्त व्यञ्जन = ह्रस्व स्वर + संयुक्त व्यञ्जन।
मुनीन्द्रः = मुनिन्दो, चूर्णः = चुण्णो, जीर्णः = जिण्णो।[5]

(२) दीर्घ स्वर + सरल व्यञ्जन = ह्रस्व स्वर + व्यञ्जन को द्वित्व।[6]
नीडम् = निड्डं, आबृहति = अब्बहति, उदूखलम् = उदुक्खलं।

(३) ए + संयुक्त व्यञ्जन = ऍ या इ + संयुक्त व्यञ्जन।
क्षेत्रम् = खेॅत्तं, महेन्द्रः = महिन्दो।

(४) ओ + संयुक्त व्यञ्जन = ओॅ या उ + संयुक्त व्यञ्जन।
ओष्ठम् = ओॅट्ठं, नीलोत्पलम् = नीलुप्पलं।

---

१. गायगर ६.१, हे० १.४३। २. गायगर ३३.१, हे० १.४४, द्र०—पि० ७७। ३. गायगर ६.३, हे० १.९२, पि० ७६। ४. क० १. ३. ३, गायगर ३३.१। ५. गायगर ५ ए। ६. गायगर ६.२, जब मूल संस्कृत शब्द के अन्तिम अक्षर पर ध्वनिबल का जोर पड़ता हो, पि० ९०।

(५) समस्त पद में प्रथम पद का अन्तिम दीर्घ स्वर + द्वितीय पद = प्रथम पद का अन्तिम ह्रस्व स्वर + द्वितीय पद ।[१]

दासीगणः = दासिगणो, श्वश्रूदेवा = सस्सुदेवा ।

(६) दीर्घ स्वर + संयुक्त व्यञ्जन = ह्रस्व स्वर + स्वरभक्तिकृत सरल व्यञ्जन ।[२]

सूर्यः = सुरियो, आचार्यः = आचरियो ।

५.३ समीपस्थ स्वर का प्रभाव

(१) अ (जिसके पहले या बाद में इ आया हो) > इ ।[३]

निषण्णः = निसिन्नो, तमिस्रा = तिमिस्सा ।

(२) अ (जिसके पहले या बाद में उ आया हो) > उ ।[४]

कुरङ्गः = कुरुङ्गो, समुद्गः = सुमुग्गो ।

(३) इ (जिसके पहले अ आया हो) > अ ।[५]

पुष्करिणी = पोक्खरणी, काकिणिका = काकणिका ।

(४) इ (जिसके बाद उ आया हो) > उ ।[६]

इषुः = उसु, शिशुः = सिसु ।

(५) उ (जिसके पहले या बाद में अ आया हो) > अ ।[७]

शष्कुली = सक्खली, कूर्परः = कप्परो ।

५.४ बलाघात[८] का प्रभाव

(१) अ > इ, चन्द्रमा = चन्दिमा, मध्यमः = मज्झिमो ।[९]

(२) अ > उ, नवतिः = नवुति, कर्मणा = कम्मुना ।[१०]

(३) इ > उ, गैरिकः = गेरुको, राजिलः = राजुलो ।[११]

(४) इ > उ, मृदुता = मुदिता, स्नुषा = सुणिसा ।[१२]

(५) ओ > उ उताहो = उदाहु, असौ = असो = असु ।[१३]

---

१. क० १ ३.४, हे० १.४, गायगर ३३.२ । २. सूर्य>सुर्य>सुरिय, गायगर ८, पि० १३० । ३. गायगर १६.१ सी, १७.२ डी । ४. वही, १६.१ बी, १७.२ ए । ५. वही, १७.२ बी । ६. वही, १६.१ ए । ७. वही, १६.१ डी, १७.२ सी । ८. Accent । ९. गायगर १९.१, पि० १०३ । १०. गायगर १९.२ । ११-१२. वही १९.३ । १३. वही, २२ ।

५.५ सम्प्रसारण[१]

(१) य>ई, त्र्यहः=तीहो, व्यजनम् = वीजनं

(२) व>ऊ, श्वानः=सूनो, स्वस्तिः=सूत्थि=सुत्थि = सोत्थि।

(३) अय>ए, जयति=जेति, कथयति=कथेति।

(४) अव>ओ, लवणम् = लोणं, प्रवणम् = पोणं।

अपवाद

(१) अय>अ, प्रतिसंलयनम्=पटिसल्लानं।

(२) आय>आ, कात्यायनः = कच्चानो, कच्चायनो।

(३) आव>ओ, अतिधावनम्=अतिधोनं।

(४) यवा>आ, यवागुः=यागु।

५.६ छन्द-रचना

(१) ह्रस्व स्वर>दीर्घ स्वर।[२]

पापयतु=पापयातु, लोकत्तयं सिवपुरं लहु पापयातु।[३] जनतं=जनतां, होतं तव'ज्ज जनतामतिचारहेतु।[४]

(२) दीर्घ स्वर>ह्रस्व स्वर।[५]

अदत्वा=अदत्व, धारेन्त्वपायपतमानमदत्व जन्तुं।[६] ठपितं=ठपित, छेत्वा करे ठपित दन्तवरा व लुद्दं।[७]

५.७ स्वर-लोप[८]

अ लोप, अपि=पि।

इ लोप, इति=ति।

उ लोप, उदकं=दकं।

---

१. गायगर, २५-२८, द्र०—पि० १४२-१४६। २. गायगर ३२.१। ३. पज्जमधु, ४३। ४. पज्जमधु ६२। ५. गायगर ३२.२। ६. पज्जमधु १८। ७. पज्जमधु ९२। ८. गायगर ६६.१।

सरलव्यञ्जन-परिवर्तन

संस्कृत के श, ष, ड एवं ढ—ये चार सरल व्यञ्जन पालि में नहीं पाये जाते हैं। पालि में उक्त सरल व्यञ्जनों के स्थान पर निम्नलिखित व्यञ्जन दृष्टिगोचर होते हैं—

(१) श>छ[1] तथा स[2], शवः=छवो, शरणम्=सरणं

(२) ष>छ[1] तथा स[2], षट्=छ, पुरुषः=पुरिसो।

(३) ड>ळ[3], जडः=जळो, तडागः=तळाको।

(४) ढ>ळ्ह,[3] मूढः=मूळ्हो, गूढः=गूळ्हो।

इसके अतिरिक्त संस्कृत के सरल व्यञ्जन जो पालि में बदल जाते हैं उनके मूल में सामान्यतया निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—

१. य-श्रुति एवं व-श्रुति, २. वर्ण-विपर्यय, ३. वर्ग-परिवर्तन, ४. ऊष्मीकरण, ५. घोषीकरण, ६. अघोषीकरण, ७. अल्पप्राणीकरण, ८. महाप्राणीकरण, ९. व्यञ्जन-लोप तथा १०. अन्य परिवर्तन।

१. य-श्रुति[4] एवं व-श्रुति[5]

(१) क>य, कौशिकः=कोसियो, स्वकम्=सयं।

(२) ज>य, निजम्=नियं।

(३) द>य, खादितः=खायितो, स्वादितः=सायितो।

(४) व>य, दावः=दायो।

---

१. केवल प्रारम्भिक श या ष को ही छ होता है, गायगर ४०.१; तु०—हे० १.२६५। २. गायगर ३, हे० १.२६०। ३. ये वैदिक ध्वनियाँ हैं जो कि लौकिक संस्कृत में दृष्टिगोचर नहीं होती हैं किन्तु कुछ प्राकृतों में उपलब्ध होती हैं, गायगर २.३ तथा ३. द्र०—पि० २४०,२४२। ४. गायगर ३६, तु० हे० १.१८०; पि० १८७। ५. गायगर ३६, उकार के बाद के ही लुप्त व्यञ्जन को वश्रुति होती है, द्र०—प्राकृत-प्रवेशिका पृ० १३२।

(५) क>व, शुकः=सुवो ।

(६) प>व, पापः=पावो, कपित्थः=कवित्थो ।[१]

२. वर्ण-विपर्यय[२]

(१) शक>कस, मशकः=मकसो ।

(२) रेणु>णेरु, करेणुः=कणेरु ।

(३) रियु>यिरु, पर्युपासेत=परियुपासेय्य=पयिरुपासेय्य ।

(४) हर>रह, ह्रदः=हरदो=रहदो ।

३. वर्ग-परिवर्तन

(१) कवर्गीय व्यञ्जन>चवर्गीय व्यञ्जन ।[३]
कुन्दः=चुन्दो, इङ्गति=इञ्जति ।

(२) चवर्गीय व्यञ्जन>तवर्गीय व्यञ्जन ।[४]
चिकित्सति=तिकिच्छति जुगुप्सा=दिगुच्छा ।

(३) तवर्गीय व्यञ्जन>टवर्गीय व्यञ्जन ।[५]
प्रतिमा=पटिमा, प्रथमः=पठमो, दंशः=डंसो, द्वैधकम्=द्वेढकं=द्वेळ्हकं, श्वानः=साणो ।

४. ऊष्मीकरण ।[६]

ख>ह, सुखता=सुहता ।

घ>ह, लघुकः=लहुको, प्राघुणः=पाहुणो ।

ध>ह, रुधिरम्=रुहिरं, साधुः=साहु ।

भ>ह, प्रभूतम्=पहूतं, प्रभवति=पहोति ।

५. घोषीकरण[७]

क>ग, प्रतिकृत्य=पटिगच्च, मूकः=मूगो ।

च>ज, लकुचम्=लबुजं, स्रुच्=सुजा ।

त>द, वितस्तिः=विदत्थि, उताहो=उदाहु ।

थ>ध, ग्रथितम्=गधितं ।

---

१ प>व, द्र०—हे० १.२३१ । २. र व्यञ्जन वर्ण-विपर्यय के नियम से अत्यधिक प्रभावित होता है, गायगर ४७.२; पि० ३५४ । ३ गायगर ४.१ । ४. वही, ४१.२; पि० २१५ । ५. गायगर ४२, पि० २८९-२९४ । ६. गायगर ३७, हे० १.१८७, पि० १८८ । ७. गायगर ३८, हे० १ १७७ की वृत्ति ।

६. **अघोषीकरण**[1]

ग>क, तडागम्=तळाकं कुलोपगः=कुलूपको ।

ज>च, प्राजनम्—पाचनं, प्राजयति=पाचेति ।

द>त, कुसीदः=कुसीतो, चेदिः=चेति ।

ब,व>प, लाबु=लापु, प्रावरणम्=पापुरणं ।

घ>ख, परिघः=पलिखो ।

ध>थ, उपधेयम्=उपथेय्यं, पिधीयते=पिथीयति ।

७. **अल्पप्राणीकरण**[2]

झ>ज, झल्लिका=जल्लिका ।

थ>त, कथिका=कतिका ।

ध>द, क्षुधा=खुदा ।

फ>प, स्फोटयति=पोठेति ।

८. **महाप्राणीकरण**[3]

क>ख, कीलः=खीलो, शुनकः=सुनखो ।

ग>घ, गृहम्=घरं ।

ट>ठ, कण्टकम्=कण्ठकं ।

त>थ, तुषः=थुसो ।

प>फ, परशुः=फरसु, पलम्=फलं ।

ब>भ, बुसम्=भुसं ।

ह>ध, घ; इह=इध, हम्मति=घम्मति ।

९. **व्यन्जन लोप**[4]

(१) अर्धतृतीयः=अड्ढततियो=अड्ढतियो ।

(२) पविसिष्यामि=पविसिस्सामि=पविस्सामि ।

---

१. गायगर ३९, पैशाची एवं चूलिका पैशाची नामक प्राकृतों में भी यह विशेषता दृष्टिगोचर होती हैं, हे० ४.३२५; पि० १९०-१९१ । २. गायगर ४०.२ । ३. वही ४०.१ द्र०—हे० १.१८४, १९४ । ४. गायगर ६५.२ द्र० हे० १.२६७-२७१ ।

१०. अन्य परिवर्तन

(१) त, द, न>र, सप्ततिः=सत्तरि, एकादश=एकारस, नेरञ्जना=नेरञ्जरा ।[1]

(२) न, र, य>ल, पिनह्यति=पिलन्धति, रौद्रः=लुद्दो, यष्टिः=लठ्ठि ।[2]

(३) ल>न, र; लङ्गलम्=नङ्गलं, ललाटम्=नलाटं, किल=किर ।[3]

(४) ण>ळ, वेणुः=वेळु, मृणालम्=मुळालं ।[4]

(५) अन्तिम व्यञ्जन>लोप, देवात्=देवा, पश्चात्=पच्छा ।[5]

(६) अन्तिम व्यञ्जन>अनुस्वार, यत्=जं, मुनिम्=मुनिं ।[6]

(७) अन्तिम व्यञ्जन>स्वर युक्त व्यञ्जन, शरद्=सरदो, सरित्=सरिता ।[7]

(८) अः>ओ, बुद्धः=बुद्धो ।[8]

(९) स्वर (अ को छोड़ कर) : >लोप, मुनिः=मुनि, भानुः=भानु, बुद्धाः=बुद्धा ।[9]

---

१. गायगर ४३.१,२; पि० २४५, २४७ । २. गायगर ४३.१,४४,४६. ३. पि० २४७,२५५, २५६ । ३. गायगर ४५ तु०—हे० १.२५६, पि० २५९, २६० । ४. गायगर ४३.३, पि० २४३ । ५. क० २.१.३१, द्र०—हे० १.११,१८ । ६. क० २.१.५३ । ७. सि (सु) का लोप हो जाता है, क० २.४.१० ।

चौथा अध्याय

संयुक्तव्यञ्जन-परिवर्तन

संस्कृत के संयुक्त व्यञ्जन पालि में जिस परिवर्तित रूप को धारण कर लेते हैं उसके मूल में सामान्यरूप से निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—

१. समानीकरण, २. स्वर-भक्ति, ३. वर्ण-विपर्यय, ४. वर्ग परिवर्तन, ५. ऊष्मीकरण, ६. घोषीकरण, ७. अघोषीकरण, ८. अल्पप्राणीकरण, ९. महाप्राणीकरण तथा १०. सादृश्य।

१. समानीकरण[1]

सबल से दुर्बल व्यञ्जनों का क्रम (जो कि इस प्रवृत्ति का मुख्य आधार है) निम्नलिखित है—

(१) वर्ग के प्रथम चार वर्ण

(२) ऊष्म (श, ष तथा स)

(३) अनुनासिक वर्ण

(४) ल व य र (क्रमशः)

१.१ आदि-संयुक्तव्यञ्जन[2]

(१) व्यञ्जन + व्यञ्जन = दुर्बल व्यञ्जन का लोप।

क्षत्रियः = खत्तियो, प्रशंसति = पसंसति, ध्वजः = धजो।

अपवाद

अपरिवर्तित संयुक्त व्यञ्जन—क्व, त्य त्व, द्व, न्ह, ब्य, ब्र, व्य एवं स्व। क्व = क्व, तेऽस्य = त्यस्य, त्वम् = त्वं, द्वयम् = द्वयं, स्नायुः = न्हारु, व्याधिः = ब्याधि, ब्राह्मणः = ब्राह्मणो, व्याकुलम् = व्याकुलं, स्वागतम् = स्वागतं।

---

१. गायगर ५१, द्र०—हे० २.७७-९०, पि० ५४,२७० । २. समानीकरण या स्वरभक्ति के नियमों से अप्रभावित संयुक्त व्यञ्जन ही शब्द के आदि में रह जाते हैं, द्र०—पि० २६८-२६९।

(२) समस्तपदवर्ती द्वितीय पद का प्रारम्भिक आदि संयुक्त व्यञ्जन[1] = प्रारम्भिक संयुक्त व्यञ्जन, मध्यवर्ती संयुक्त व्यञ्जन।
चक्षुश्रोतम् = चक्खुसोतं, शरतलप्रभा = सरतलप्पभा।

१.२ मध्य-संयुक्तव्यञ्जन

(१) समान बलवाले व्यञ्जनों से बना संयुक्त व्यञ्जन = प्रथम व्यञ्जन का लोप + द्वितीय व्यञ्जन को द्वित्व।[2]
उत्पलम् = उप्पलं, उन्मत्तः = उम्मत्तो, शल्यम् = सल्लं।

(२) असमान बलवाले व्यञ्जनों से बना संयुक्त व्यजन = दुर्बल व्यञ्जन का लोप + सबल व्यञ्जन को द्वित्व।[3]
नग्नः = नग्गो, उग्रः = उग्गो, रम्यम् = रम्मं।

(३) श, ष, स + व्यञ्जन या व्यञ्जन + श, ष, स = व्यञ्जन + व्यञ्जन का महाप्राणीकृत रूप।[4]
आश्चर्यम् = अच्छरियं, मोक्षः = मोक्खो।

अपवाद

(१) प्स, त्स > च्छ, अप्सरा = अच्छरा, कुत्सितम् = कुच्छितं।[5]
(२) व्यञ्जन + अन्तःस्थ > अपरिवर्तित, वाक्यम् = वाक्यं, तत्र = तत्र।[6]
(३) ज्ञ, ण्य तथा न्य > ञ्ञ, अन्यम् = अञ्ञं, हिरण्यम् = हिरञ्ञं, प्रज्ञा = पञ्ञा।[7]

२. स्वरभक्ति[8]

(१) अ से विभक्त, गर्हा = गरहा, रत्नम् = रतनं।
(२) इ से विभक्त, आचार्यः = आचरियो, ग्लानः = गिलानो।
(३) उ से विभक्त, द्वे = दुवे, पद्मम् = पदुमं।[9]

---

१. समस्तपदवर्ती द्वितीय पद के आदि व्यंजन के साथ कभी आदि व्यञ्जन जैसा व्यवहार होता है तो कभी मध्य व्यञ्जन जैसा, गायगर ५१.२, द्र०—प्राकृत-प्रवेशिका, पृ० १०। २. गायगर ५२। ३. वही, ५३,५४। ४. वही, ५२.२ द्र०—हे० २.३ पि० ३०१। ५. गायगर ५७, द्र०—हे० २.२१। ६. गायगर ५३.३। ७. वही; ५३.१,५५। ८. वही, ३१; पि० १३१-१४०। ९. यदि यंयुक्त व्यञ्जन का द्वितीय व्यञ्जन व या म हो तो वह उ से विभक्त होता है, गायगर ३१.२।

३. वर्ण-विपर्यय

(१) ह्+अनुनासिक वर्ण, य या व > अनुनासिक वर्ण, य या व+ह।[1]
पूर्वाह्णः = पुब्बण्हो, जिह्मम्=जिम्हं, आरुह्य=आरुय्ह, जिह्वा=जिव्हा।

(२) श, ष या स+अनुनासिक=अनुनासिक+ह।[2]
अश्मना = अम्हना, उष्णः = उण्हो, विस्मयः=विम्हयो।

अपवाद

ष्म > स्म, आयुस्मन्तो; श्म > म्श, रश्मिः=रंसि।

(३) **विशिष्ट व्यञ्जन**[3]

(क) क्ष्ण > ष्ण > ण्ह, तीक्ष्णः=तिण्हो।

(ख) क्ष्म > ष्म > म्ह, पक्ष्म = पम्हं।

(ग) त्स्न > स्न > ण्ह, ज्योत्स्ना=जुण्हा।

४. वर्ग-परिवर्तन

(१) तवर्गीय व्यञ्जन+य > चवर्गीय व्यञ्जन+य > चवर्गीय व्यञ्जन को द्वित्व+य का लोप।[4]

सत्यम्=सच्चं, रथ्या=रच्छा, अद्य = अज्ज, मध्यम् = मज्झं, अन्यम्=अञ्ञं।

(२) तवर्गीय व्यञ्जन+र > टवर्गीय व्यञ्जन+र > टवर्गीय व्यञ्जन को द्वित्व+र का लोप।[5]

कैवर्तः = केवट्टो, अर्थः = अट्ठो, छर्दयति=छड्डेति, अर्धम्=अड्ढं।

५. ऊष्मीकरण[6]

(१) भ्य > ह्य > य्ह, तुभ्यम्=तुय्हं।

(२) ध्व > ह्व > व्ह, पचध्वे = पचह्वे=पचव्हे।

---

१. गायगर ४९.१, द्र०—हे० २.७४,७५। २. गायगर ५०.१-६। ३, सबलतम व्यञ्जन को निकालकर पूर्वोक्त नियमानुसार वर्ण-विपर्यय, वही, ५०. द्र० हे० २.७५ ४. गायगर ५५, वर० ३.२७-२८। ५. गायगर ६४.१, पि० २८९। ६. गायगर ६०।

६. घोषीकरण[1]

(१) क्ष > क्ख, > ग्घ, शक्ष्यसि = सक्खसि=सग्घसि ।
(२) ञ्छ > ञ्ज, प्रोञ्छति=पुञ्जति, पुञ्छति ।
(३) ण्ट > ण्ड, निघण्टुः=निघण्डु ।
(४) न्त > न्द, हन्त = हन्द ।
(५) न्थ > न्ध, ग्रन्थः=गन्धो ।

७, अघोषीकरण[2]

(१) ङ्ग > ङ्क, भृङ्गारः=भिङ्कारो ।
(२) ब्ब > प्प, तीव्रम् = तिब्बं=तिप्पं ।
(३) ग्ग > क्क, विलग्नम् = विलग्गं=विलक्कं, विलाकं ।

८. अल्पप्राणीकरण[3]

(१) ध्र > द्द, लोध्रः=लोद्दो ।
(२) भ्र > ब्ब, बभ्रुः=बब्बु ।
(३) ब्ध > द्द, लुब्धकः=लुद्दको ।
(४) क्ख > क्क, चतुष्कः=चतुक्खो=चतुक्को ।
(५) प्फ > प्प, बाष्पः=बप्फो=बप्पो ।

६. महाप्राणीकरण[4]

(१) ङ्ग > ङ्घ. शृङ्गाटकम्=सिङ्घाटकं ।
(२) प्प > प्फ, पिप्पली=पिप्फली ।
(३) च्च > च्छ, अर्चिः=अच्चि=अच्छि ।
(४) त्र=त्थ, तत्र=तत्त=तत्थ ।

१०. सादृश्य[5]

(१) मह्यम्=मय्हं के समान तुय्हं ।
(२) दुर्वचः=दुब्बचो के समान सुब्बचो ।
(३) दुर्भिक्षः=दुब्भिक्खो के समान सुब्भिक्खो ।
(४) दुर्वृष्टिः=दुब्बुट्ठि के समान सुब्बुट्ठि ।

---

१. वही, ६१.१ । २. वही ६१.२ । ३. वही, ६२.२ । ४. वही, ३२.१
५. भाषाविज्ञान, पृ० ३८९ ।

पाँचवाँ अध्याय

सन्धि-प्रकरण

पालि में सन्धि की व्यवस्था वैकल्पिक है ।[1] सन्धि के तीन भेद हैं—
१. स्वर-सन्धि, २. व्यञ्जन-सन्धि तथा ३. निग्गहीत (अनुस्वार) सन्धि ।

१. स्वर-सन्धि

(१) (क) स्वर+स्वर=स्वर का लोप+स्वर ।[2]

तत्र+इमे=तत्रिमे (तत्रेमे), यस्स+इन्द्रियानि=यस्सिन्द्रियानि (यस्येन्द्रियाणि) ।

(ख) स्वर+स्वर=स्वर का लोप+स्वर को दीर्घ[3] ।

च+उभयं=चूभयं (चोभयम्), तत्र+अयं=तत्रायं (तत्रायम्) ।

(ग) स्वर+स्वर=स्वर+स्वर का लोप ।[4]

सो+अपि=सोपि (सोऽपि), ते+इमे=तेमे (ते इमे) ।

(घ) स्वर+स्वर=स्वर को दीर्घ+स्वर का लोप ।[5]

साधु+इति=साधूति (साध्विति), किंसु+इध=किंसूध (किम्विह) ।

(२) (क) स्वर+इवर्ण=स्वर का लोप+ए ।[6]

तस्स+इदं=तस्सेदं (तस्येदम्), वात+ईरितं=वातेरितं (वातेरितम्) ।

(ख) स्वर+उवर्ण=स्वर का लोप+ओ ।[6]

न+उपेति=नोपेति (नोपेति), अग्गि+उदकं=अग्गोदकं (अग्न्युदकम्) ।

(३) स्वर+एव=स्वर को ह्रस्व+रिव ।[7]

यथा+एव=यथरिव (यथैव), तथा+एव=तथरिव (तथैव) ।

---

१. गायगर ६८, तु०—हे० १.५ । २. क० १.२.१. तु०—हे० १.१० । ३. क० १.२.१, १.२.४ । ४. क० १.२.२ । ५. क० १.२.२, १.२.५ । ६. क० १.२.३ । ७. क० १.२.११ ।

(४) इवर्ण + स्वर = य् + स्वर ।[1]
वि + अञ्जनं = व्यञ्जनं (व्यञ्जनम्), अग्नि + आगारं = अग्यागारं (अग्न्यागारम्) ।

अपवाद

(क) ति + स्वर = च्च + स्वर ।[2]
जाति + अन्धो = जच्चन्धो (जात्यन्धः), अति + अन्तं = अच्चन्तं (अत्यन्तम्) ।

(ख) अधि + स्वर = अज्झ् + स्वर ।[3]
अधि + ओकासो = अज्झोकासो (अध्यवकाशः) ।

(ग) अभि + स्वर = अब्भ् + स्वर ।[4]
अभि + उदीरितं = अब्भुदीरितं (अभ्युदीरितम्) ।

(५) उवर्ण + स्वर = व् + स्वर ।[5]
सु + आगतो = स्वागतो (स्वागतः), अनु + एति = अन्वेति (अन्वेति) ।

(६) (क) ए + स्वर = य् + सरल व्यञ्जन से पूर्ववर्ती होने पर स्वर को दीर्घ ।[6]
के + अस्स = क्यस्स (केऽस्य), मे + अयं = म्यायं (मेऽयम) ।

(ख) ओ + स्वर = व् + सरल व्यञ्जन के पूर्ववर्ती होने पर स्वर को दीर्घ ।[5]
सो + अहं = स्वाहं (सोऽहम्), सो + अस्स = स्वस्स (सोऽस्य)

(७) स्वर + स्वर = प्रकृति भाव ।[7]
को + इमं = को इमं (क इमम्)

(८) स्वर + स्वर = स्वर + व्यञ्जन-आगम + स्वर ।[8]
(क) ग का आगम, पुथ + एव = पुथगेव (पृथगेव) ।
(ख) त का आगम, यस्मा + इह = यस्मातिह (यस्मादिह) ।
(ग) द का आगम, उ + अन्तं = उदन्तं (उदन्तम्) ।

---

१. क० १.२.१० । २. क० १.२.८, १.३.६; त्य > च्च, द्र०—अध्याय ४ वर्ग-परिवर्तन । ३. क० १.५.४, ध्य > ज्झ, द्र० अध्याय ४ वर्ग-परिवर्तन । ४. क० १.५.३, भ्य > ब्भ, द्र० अध्याय ४ समानीकरण । ५. क० १.२.७, तु०—पा० ६.१.७७ । ६. क० १.२.६ । ७. क० १.३.२ । ८. क० १.५.१, १.४.६, समस्तपद हो जाने पर प्रथम पद का अन्तिम लुप्त व्यंजन फिर से आ जाता है, गायगर ६७ ।

(घ) **न** का आगम, इतो+आयाति=इतोनायाति (इत आयाति)।

(ङ) **म** का आगम, तानि+एव=तानिमेव (तान्येव)।

(च) **य** का आगम, छ+इमे=छयिमे (षडिमे)।

(छ) **र** का आगम, हंसो+इव=हंसोरिव (हंस इव)।

(ज) **ळ** का आगम, छ+अभिञ्ञा=छळभिञ्ञा (षडभिज्ञाः)।

(झ) **व** का आगम, स+उपादाना=सवुपादाना (सोपादानाः)।

२. व्यञ्जन-सन्धि

(१) स्वर+व्यञ्जन=**अ**+व्यञ्जन।[1]
सो+सीलवा=स सीलवा (स शीलवान्), एसो+धम्मो=एस धम्मो (एष धर्मः)।

(२) स्वर+व्यञ्जन=स्वर+व्यञ्जन को द्वित्व।[2]
इध+पमादो=इधप्पमादो (इह प्रमादः), यत्र+ठितं=यत्रट्ठितं (यत्र स्थितम्)।

(३) स्वर+व्यञ्जन=ओ+व्यञ्जन।[3]
तप+धनो=तपोधनो (तपोधनः), मन+रमो=मनोरमो (मनोरमः)।

३. निग्गहीत (अनुस्वार)-सन्धि

(१) अनुस्वार+वर्गीय व्यञ्जन=तद्वर्गीय पंचम व्यञ्जन+व्यञ्जन।[4]
धम्मं+चरे=धम्मञ्चरे (धर्मञ्चरेत्)।

(२) (क) अनुस्वार+**ए**=ञ्ञ्+ए।[5]
तं+एव=तञ्ञेव (तदेव), अहं+एव=अहञ्ञेव (अहमेव)।

(ख) अनुस्वार+**ह**=ञ्+ह।[5]
तं+हि=तञ्हि (तं हि), एवं+हि=एवञ्हि (एवं हि)।

(ग) अनुस्वार+य=ञ्ञ।[6]
सं+योगो=सञ्ञोगो (संयोगः), सं+युत्तं=सञ्ञुत्तं (संयुक्तम्)।

---

१. क० १.३.५ तु०—पा० ६.१.१३२। २. क० १.३.६, समस्त पद होने पर द्वितीय पद के आदि का व्यञ्जन अपने मूलभूत संयुक्तव्यञ्जन में बदल जाता है, गायगर ६७।३. क० १.४.७, तु०—पा० ६.१.११४। ४. क० १.४.२। ५. क० १.४.३। ६. क० १.४.४।

(घ) अनुस्वार + स्वर = द् या म् + स्वर ।[1]
अञ्ञं + अत्थु = अञ्ञदत्थु (अन्यदस्तु), तं + अहं = तमहं (तमहम्) ।

(३) स्वर + व्यञ्जन = स्वर + अनुस्वार का आगम + व्यञ्जन ।[2]
याव + च = यावं च, यावञ्च (यावच्च)

(४) अनुस्वार + स्वर या व्यञ्जन = लोप + स्वर या व्यञ्जन ।[3]
येसं + अहं = येसाहं (येषामहम्), बुद्धानं + सासनं =
बुद्धानसासनं (बुद्धानां शासनम्) ।

(५) अनुस्वार + स्वर = अनुस्वार + स्वर लोप ।[4]
इदं + अपि = इदं पि (इदमपि) यथाबीजं + इव =
यथाबीजं व (यथाबीजमिव) ।

(६) अनुस्वार + स्वर + संयुक्त व्यञ्जन = अनुस्वार + स्वर का लोप
+ सरल व्यञ्जन ।[5]
एवं + अस्स = एवंस (एवमस्य), पुप्फं + अस्सा = पुप्फंसा
(पुष्पमस्याः) ।

---

१. क० १.४'१ सन्धि होने पर प्रथम पद का अन्तिम लुप्त व्यञ्जन पुनः आ जाता है, गायगर ६७ । २. क० १.४८ । ३. क० १.४.९ । ४. क० १.४.११ । ५. क० १.४.११-१२ ।

छठा अध्याय

कृत्प्रत्यय

१. कृत्य

अनीय (अनीयर्) >अनीय, करणीयः=करणीयो ।[1]

तव्य (तव्यत्, तव्य) >तब्ब, कर्तव्यः=कत्तब्बो ।[1]

य (यत्) >य (घ्यण्), देयः=देय्यो ।[2]

य (क्यप्) >य (यक्), शिष्यः=सिस्सो ।[3]

य (ण्यत्) >य (यक्), कार्यः = कारियो ।[4]

२. कृत्

(१) वर्तमानकालिक कृत्[5]

अत् (शतृ) >अं, न्त; पचन्=पचं, पचन्तो ।

मान (म्+शानच्) >मान, पचमानः=पचमानो ।

(२) भूतकालिक कृत्[6]

त (क्त) >त (क्त), पक्वः=पचितो ।

तवत् (क्तवतु) >तवन्तु (क्तवन्तु), पक्ववान्=पचितवा ।

तवत् (क्तवतु) >तावी (क्तावी), पक्ववान् = पचितावी ।

(३) भविष्यत्कालिक कृत्[7]

ष्यत् (स्य+शतृ)>स्सं, स्सन्त; पचिष्यन्=पचिस्सं पचिस्सन्तो ।

ष्यमाण (स्य+म्+शानच्) >स्समाण, पचिष्यमाणः= पचिस्समाणो ।

---

१. पा० ३.१.९२, मो० ५.२७ । २. पा० ३.१.९७, मो० ५.२८-२९ । ३. पा० ३.१.१०९, मो० ५.३२ । ४. पा० ३,१.१२४, मो० ५.३२ । ५. पा० ३.२.१२४, मो० ५.६४-६५ । ६. पा० १.१.२६, मो० ५.५५-५६ । ७. पा० ३,३.१४, मो० २.१५०,५.६४-६५ ।

(४) पूर्वकालिक कृत्

त्वा (क्त्वा) >त्वा, (क्त्वा), गत्वा = गन्त्वा ।[1]

त्वा (क्त्वा) >त्वान, (क्त्वान), गत्वा = गन्त्वान ।[1]

त्वा (क्त्वा) >तून, गत्वा=गन्तून ।[1]

त्वा (क्त्वा) >य (प्य), छित्त्वा=छिन्दिय ।[2]

य (ल्यप्) >त्वा (क्त्वा), उपसङ्क्रम्य=उपसङ्कमित्वा ।[3]

य (ल्यप्) >य (प्य), आदाय=आदाय ।[3]

(५) हेत्वर्थक कृत्

तुम् (तुमुन्)>तुं, तवे, ताये; कर्तुम्=कातुं, कातवे, कत्ताये ।

(५) कर्तृवाचक कृत्

अ (अण्) >अ (अण्), कुम्भकार:=कुम्भकारो ।[4]

अ (क) >अ (क), प्रिय: = पियो ।[6]

अ (क) >ऊ (कू), विज्ञ:=विञ्ञू ।[7]

अ (ड) >ऊ (रू), पारग:=पारगू ।[8]

अक (ण्वुल्) >अक (णक), कारक:=कारको ।[9]

अक (वुन्) >अक, जीवक: = जीवको ।[10]

अन (ल्यु) >अन (यु), नन्दन:=नन्दनो ।[11]

अन (ण्युट्) >अन (णन), हायन:=हायनो ।[12]

इन् (णिनि) >ई (णी), उष्णभोजी=उण्हभोजी ।[13]

इन् (णिनि) >आवी, भयदर्शी=भयदस्सावी ।[14]

---

१. पा० ३.४.२१, मो० ५.६३ । २. पा० ३.४.२१, मो० ५.१६४ । ३. पा० ७.१.३७, मो० ५.१६४ । ४. पा० ३.३.१०, मो० ५.५१ । ५. पा० ३.२.१, मो० ५.४१ । ६. पा० ३.१.१३५, मो० ५.४४ । ७. पा० ३.१.१३६, मो० ५.३९ । ८. पा० ३.३.४८,६.३.६६; मो० ५.४२ । ९. पा० ३.१.१३३,७.१.१; मो० ५.३३ । १०. पा० ३.१.१५०, मो० ५.३५ । ११. पा० ३.१.१३४, ७.१.१; क० ४.१.२४; ४.५.१६ । १२. पा० ३.१.१४८, मो० ५.३७ । १३. पा० ३.२.७८, मो० ५.५३ । १४. पा० ३.२.७८, मो० ५.३४ ।

उ (उ) >उ (रु), भिक्षुः=भिक्खु।[1]
तृ (तृच्) >तु (ल्तु), कर्ता=कत्ता।[2]
लोप (क्विप्) >ऊ (कू), वेदवित्=वेदविदू।[3]

(७) **भावार्थक कृत्**

अ (घञ्) >अ (घण्), पाकः=पाको।[4]
अ (अच्) >अ, जयः=जयो।[5]
अ (अ) >अ, पिपासा=पिपासा।[6]
अ (खल्) >अ (ख), दुष्करः=दुक्करो।[7]
अथु (अथुच्) >अथु, वेपथुः=वेपथु।[8]
अन (युच्) >अन, वन्दना=वन्दना।[9]
इ (कि) >इ, निधिः=निधि।[10]
इय (इयङ्+श)>इरिय (रिरिय), क्रिया=किरिया।[11]
कार (कार) >कार, अकारः=अकारो।[12]
ति (क्तिन्) >ति (त्ति), मतिः = मति।[13]
नि (क्तिन्) >नि, हानिः=हानि।[14]
य (क्यप्) >य, प्रव्रज्या=पब्बज्जा।[15]

३. **उणादि**

उ (उण्) >उ (ण) कारुः=कारु[16]

---

१. पा० ३.२.१६८, क० ४.१.१२। २. पा० ३.१.१३३, ७.१.१; मो० ५.३३। ३. पा० ३.२.३१, मो० ५.३८। ४. पा० ३.३.१८, मो० ५.४४। ५. पा० ३.३.५६, मो० ५.४४। ६. पा० ३.३.१०२-१०३; मो० ५.४९। ७. पा० ३.३.१३६, क० ४.२.११। ८. पा० ३.३.८९, मो० ५.४६। ९. पा० ३.३.१०७, वा० २२२२, मो० ५.४९। १०. पा० ३.३.९२, मो० ५.४५। ११. पा० ३.३.१००, मो० ५.५१। १२. पा० ३.३.१०८ की वार्तिक, क० ४.४.१५। १३. पा० ३.३.९४, मो० ५.४९। १४. पा० ३.३.९४, ८.२.४२; मो० ५.५०। १५. पा० ३.३.९८, मो० ५.४९। १६. पा० ३.३.१, क० ४.६.१।

सातवाँ अध्याय

तद्धितप्रत्यय

अ (अञ्) > **अ (ण)**, हारिद्रम्=हालिद्दं (रक्त) ।[1]
अ (अञ्) > **अ (ण)**, **क (कण)**, मायूरः=मायूरो, मायूरको (समूह) ।[2]
अ (अण्) > **अ (ण)**, काकम्=काकं (समूह) ।[3]
अ (अण्) > **अ (ण)**, शैवः=सेब्बो (निवास) ।[4]
अ (अण्) > **अ (ण)**, काषायम्=कासावं (रक्त) ।[5]
अ (अण्) > **अ (ण)**, वैदिशम्=वेदिसं (अदूरभव) ।[6]
अ (अण्) > **अ (ण)**, औदुम्बरः = ओदुम्बरो (इसमें हैं) ।[7]
अ (अण्) > **अ (ण)**, कौशाम्बी = कोसम्बी (निर्वृत्त) ।[8]
अ (अण्) > **अ (ण)**, शौचम् = सोचं (भाव) ।[9]
अ (अण्) > **अ (ण)**, वाशिष्ठः = वासिट्ठो (अपत्य) ।[10]
अ (अण्) > **अ (ण)**, वैयाकरणः = वेय्याकरणो (जानना, पढ़ना) ।[11]
अ (अण्) > **अव (णव)**, औपगवः = ओपगवो (अपत्य) ।[12]
अ (अण्) > **इक (णिक)**, वैयाकरणः = वेय्याकरणिको (जानना, पढ़ना)[13]
अ (ण) > **अ (ण)**, प्राज्ञः = पञ्ञो (मत्वर्थ) ।[14]
अक (वुन्) > **क**, पदकः=पदको (जानना, पढ़ना) ।[15]
आमिन् (आमिनच्) > **आमी, उवामी**; स्वामी=सामी, सुवामी (मत्वर्थ) ।[16]
आयन (फक्) > **आयन (णाअन)**, शाकटायनः =साकटायनो (अपत्य) ।[17]
आयन (फक्) > **आन (णान)** शाकटायनः=साकटानो (अपत्य) ।[17]

---

१. वार्तिक सं २६८२, मो० ९.११ । २. पा० ४.२.४४, क० २.८.११ । ३ पा० ४.२.३७, मो० ४.६८ । ४. पा० ४.२.६९, मो० ४.१६ । ५. पा० ४.२.१, क० २.८.९ । ६. पा० ४.२.७०, मो० ४.१७ । ७. पा० ४.२ ६७, मो० ४ १९ । ८. पा० ४,२.६८, मो० ४.१८ । ९. पा० ५.१.१३१, क० २.८.१८ । १०. पा० ४.१.११४ मो० ४.१ ११. पा० ४.२.५९, मो० ४.१४ । १२. पा० ४.१.९३, क० २.८.५ १३. पा० ४.२.५९, क० २.८.८ । १४. पा० ५.२. १०१, क० २.८.२७ । १५. पा० ४.२.६१, मो० ४.१४ । १६. पा० ५.२.१२६, मो० ४.९० । १७. पा० ४.१.९९ क० २.८.२ ।

आलु (आलु) >**आलु**, शीतालुः=सीतालु (मत्वर्थ) ।[1]

इ (इञ्) >**इ (णि)**, दाक्षिः=दक्खि (अपत्य) ।[2]

इक (ठक्) >**इक (णिक)** हास्तिकः=हत्थिको (चरति) ।[3]

इक (ठक्) >**इक (णिक)** तैलिकम्=तेलिकं (संसृष्ट) ।[4]

इक (ठन्) >**इक (णिक)**, नाविकः=नाविको (तरति) ।[5]

इक (ठन्) >**इक (णिक)**, दण्डिकः=दण्डिको (मत्वर्थ) ।[6]

इत (इतच्) >**इत**, तारकितम्=तारकितं (सञ्जात) ।[7]

इन (इनि) >**ई**, दण्डी=दण्डी (मत्वर्थ) ।[8]

इम (डिमच्) >**इम**, अन्तिमः=अन्तिमो (उत्पन्न आदि) ।[9]

इमन् (इमनिच्) >**इम**, महिमा=महिमा (भाव) ।[10]

इह (घ) >**इय, य**; क्षत्रियः=खत्तियो, खत्यो (जाति) ।[11]

इल (इलच्) >**इल**, पिच्छिलः=पिच्छिलो (मत्वर्थ) ।[12]

इष्ठ (इष्ठन्) >**इट्ठ**, पापिष्ठः = पापिट्ठो (अतिशय विशिष्ट) ।[13]

ईन (खञ्) >**इय**, ग्रामीणः=गामियो (भव) ।[14]

ईय (छ) >**इय**, बोधिसत्त्वजातीयः=बोधिसत्तजातियो (भव) ।[15]

ईयस् (ईयसुन्) >**इय**, पापीयान्=पापियो (अतिशय) ।[16]

एय (ढक्) >**एय्य (णेय्य)**, वैनतेयः=वेनतेय्यो (अपत्य) ।[17]

एय (ढक्) >**एर (णेर)**, श्रामणेयः = सामणेरो (अपत्य) ।[18]

एय (ढक्) >**एय्यक (णेय्यक)**, वाराणसेयम्=वाराणसेय्यकं (भव) ।[19]

क (कन्) >**क**, अश्वकः=अस्सको (प्रतिकृति) ।[20]

कृत्वस् (कृत्वसुच्) >**क्खत्तुं**, पञ्चकृत्वः=पञ्चक्खत्तुं (बार) ।[21]

---

१. वार्तिक सं० ३२१७, मो० ४.८६ । २. पा० ४.१.९५, क० २.८.४ । ३. पा० ४.४.८, क० २.८.७ । ४. पा० ४.४.२२, क० २.८.७ । ५ पा० ४.४.७, क० २.८.७ । ६,८. मो० ४.८०, पा० ५.२.११५, क० २.८.२३ । ७. पा० ५.२.३६, मो० ४.४५ । ९. वा० २८४५, क० २.८.१० । १०. पा० ५.१.११२, मो० ४.६२ । ११, पा० ४.१.१३८, मो० ४.७ । १२. पा० ५.२.१००, मो० ४.८७ । १३. पा० ५.३.५५ क० २.८,२० । १४. पा० ४.२.९४, मो० ४.२५ । १५. पा० ४,२.११४, क० २.८.१० । १६. पा० ५.३.५७, क० २.८.२० । १७. पा० ४.१.१२०, मो० ४.३ । १८. पा० ४.१.१२०, २.८.६ । १९. पा० ४.२.९७, मो० ४.२५ । २०. पा० ५.३.९६ मो० ४.४० । २१. पा० ५.४.१७, मो० ४.११४ ।

तन (तुट्+ट्युल्) >तन, अद्यतनः=अज्जतनो (भव)।[१]

तम (तमप्) >तम, पापतमः=पापतमो (अतिशय विशिष्ट)।[२]

तर (तरप्) >तर, पापतरः=पापतरो (अतिशय)।[३]

तस् (तसिल्) >तो, कुतः=कुतो (पञ्चमी)।[४]

ता तल्) >ता, जनता=जनता (समूह)।[५]

ता (तल्) >ता, नीलता=नीलता (भाव)।[६]

तीय (तीय) >तिय, द्वितीयः=दुतियो (संख्यापूरण)।[७]

त्य (त्यद्) >अच्च, अमात्यः=अमच्चो (भव)।[८]

त्र (त्रल्) >त्र त्थ; कुत्र=कुत्थ (सप्तमी)।[९]

त्व (त्व) >त्त, त्तन; नीलत्वम्=नीलत्तं, नीलत्तनं (भाव)।[१०]

थ (थुग्+डट्) >थ, चतुर्थः=चतुत्थो (संख्यापूरण)।[११]

थ (थुग्+डट्) >ठ, षष्ठः=छट्ठो (संख्यापूरण)।[१२]

थम् (थमु) >थं, इत्थम्=इत्थं (प्रकार)।[१३]

था (थाल्) >था, सर्वथा=सब्बथा (प्रकार)।[१४]

दा (दा) >दा, अन्यदा=अञ्ञदा (सप्तमी)।[१५]

धा(धा) >धा, एकधा=एकधा (प्रकार)।[१६]

म (मट्+डट्) =मो, पञ्चमः=पञ्चमो (संख्यापूरण)।[१७]

मत् (मतुप्) >मन्तु, मतिमान्=मतिमा (मत्वर्थ)।[१८]

मय (मयट्) >मय, रजतमयम्=रजतमयं (विकार)।[१९]

मात्र (मात्रच्) >मत्त, पलमात्रम्=पलमत्तं (परिमाण)।[२०]

य (ण्य) >य (ण्य), कौरव्यः=कोरब्यो (अपत्य)।[२१]

---

१. पा० ४.३.२३, मो० ४.२१। २. पा० ५.३.५५, क० २.८.२०। ३. पा० ५.३.५७, क० २.८.२०। ४. पा० ५.३.७, मो० ४.९५। ५. पा० ४.२.४३, क० २.८.१२। ६. पा० ५ १.११९, क० १.८.१७। ७. पा० ५.२.५४, क० २.८.४२। ८. पा० ४.२.१०४, मो० ४.२३। ९. पा० ५.३.१०, मो ४.९९। १०. पा० ५.१.११९, मो० ४.५९। १२. पा० ५.२.५१, क० २.८.४१। १३. पा० ५.३.२४ क० २.८.५६। १४. पा० ५.३. २३, क० २.८.५५। १५. पा० ५.३.१५, मो० ४.१०५। १६. पा० ५.३.४२, क० २.८.५४। १७. पा० ५.३.४९, क० २.८.३०। १८. पा० ५.२.९४, क० २.८.२६। १९ पा० ४.३.१४३, क० २.८.२९। २०. वार्तिक सं० ३१३३, मो० ४.४६। २१. पा० ४.१.१७२, मो० ४.१०।

य (ष्यञ्) > य (ण्य), आलस्यम्=आलस्यं (भाव) ।[1]

र (र) > र, मधुरः=मधुरो (मत्वर्थ) ।[2]

वत् (मतुप्) > वन्तु, गुणवान् = गुणवा (मत्वर्थ) ।[3]

विन् (विनि) > वी, मायावी=मायावी (मत्वर्थ) ।[4]

विन् (विनि) > सी, तपस्वी = तपस्सी (मत्वर्थ) ।[5]

श (श) > स, लोमशः=लोमसो (मत्वर्थ) ।[6]

ष (षुक्+अञ्) > स (सण्), मानुषः=मानुसो (जाति) ।[7]

ष्य (षुक्+यत्) > स्स, मनुष्यः=मनुस्सो (जाति) ।[7]

---

१. पा० ५.१.१२४, क० २.८.१७ । २. पा० ५.२.१०७, मो० ४.८२ । ३. पा० ५.२.९४; क० २.८.२५ । ४. पा० ५.२.१२१, क० २.८.२१ । ५. पा० ५.२.१२१, क० २.८.२२ । ६. पा० ५.२.१००, मो० ४.९३ । ७. पा० ४.१.१६१, मो० ४.८ ।

आठवाँ अध्याय

समास

सामान्यतः पालि में समास की व्यवस्था संस्कृत के समान है। जैसे—

१. अव्ययीभाव समास[1]

(१) नगरस्स समीपं=उपनगरं (समीप)।

(२) मकसानं अभावो=निम्मकसं (अभाव)।

(३) पासादस्स अन्तो=अन्तोपासादं (अन्त)।

(४) रथस्स पच्छा=अनुरथं (पश्चात्)। आदि।

२. तत्पुरुष समास[2]

(१) भूमिं गतो=भूमिगतो (व्यधिकरण)।

(२) नीलं उप्पलं=नीलुप्पलं (कर्मधारय)।

(३) पञ्च इन्द्रियानि = पञ्चिन्द्रियानि (द्विगु)।

(४) न सारो=असारो (नञ्)। आदि।

३. बहुव्रीहि समास[3]

(१) जितानि इन्द्रियानि येन सो=जितिन्द्रियो (समानाधिकरण)।

(२) न अत्थि भयं यस्स सो = अभयो (नञ्)।

(३) चन्दो विय मुखं यस्सा सा = चन्दमुखी (उपमानपूर्वपद)।

(४) लम्बा कण्णा यस्य सो=लम्ब कण्णो (विशेषणपूर्वपद) आदि।

४. द्वन्द्व समास[4]

(१) समणो च ब्राह्मणो च = समणब्राह्मणा (इतरेतर)।

(२) चक्खुञ्च सोतञ्च=चक्खुसोतं (समाहार)। आदि।

---

१. द्र०—पा० २.१.५-२१, मो० ३.२-९।

२. द्र०—पा० २.१.२२-७२, २.२.१-२२; मो० ३.१०-१६।

३. द्र०—पा० २.२.२३-२८, ३५-३८; मो० ३.१७।

४. द्र०—पा० २.२.२९-३४, मो० ४.१९-२१।

नवाँ अध्याय

लिङ्गानुशासन

साधारणतया पालि में लिङ्ग की व्यवस्था संस्कृत के समान है।[1] लिङ्ग की दृष्टि से पालि में भी शब्दों को निम्नलिखित चार भागों में विभाजित किया जा सकता है—१. एकलिङ्ग, २. द्विलिङ्ग, ३. त्रिलिङ्ग तथा ४. अलिङ्ग।

१. एकलिङ्ग

(१) केवल पुंलिङ्ग—बुद्ध, जय, पाक निधि आदि।

(२) केवल स्त्रीलिंग—कञ्ञा, मति, इत्थी, वधु, नीलता आदि।

(३) केवल नपुंसकलिङ्ग—चित्त, आयु, गमन, नीलत्त आदि।

२. द्विलिङ्ग

(१) पुंलिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग—अजो-अजा, भिक्खु-भिक्खुनी, मिगो-मिगी, सीहो-सीही आदि।

(२) पुंलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग—आसनो-आसनं, कालो-कालं, दिवसो-दिवसं, सीरो-सीरं आदि।

(३) स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग—आराधना-आराधनं, नगरी-नगरं, वन्दना-वन्दनं आदि।

३. त्रिलिङ्ग

कलसो-कलसी-कलसं, तटो-तटी-तटं, पुरो-पुरी-पुरं, रत्तो-रत्ती-रत्तं आदि।

४. अलिङ्ग

अव्यय—अहो, अन्तरा, अथ, किर आदि।

---

1. Gender is distinguished on the whole according to the rules of Sanskrit

—गायगर ७६।

दसवाँ अध्याय

स्त्री-प्रत्यय

पालि में निम्नलिखित स्त्री-प्रत्यय होते हैं—

१. आ, २. ई, ३. ऊ, ४. नी, ५. इनी, ६. आनी तथा ७. ति।

१. आ प्रत्यय[1]

अज+**आ** = अजा (अजा)

साम+**आ** = सामा (श्यामा)

खत्तिय+**आ** = खत्तिया (क्षत्रिया)

अय्य+**आ**=अय्या (आर्या)

स्त्री-प्रत्यय परे रहते शब्द के 'क' के पूर्ववर्ती अ को प्रायः इ हो जाता है।[2]

बालक+**आ**=बालिका

कारक+**आ** = कारिका

उपासक+**आ** = उपासिका

जनक+**आ**=जनिका

२. ई प्रत्यय[3]

सीह+**ई**=सीही (सिंही)

कुमार+**ई**=कुमारी

गोतम+**ई** = गोतमी (गौतमी)

किन्नर+**ई**=किन्नरी

३. ऊ प्रत्यय[4]

करभोरु+**ऊ** = करभोरू

वामोरु+**ऊ**=वामोरू

---

१. मो० ३.२६। २. मो० ४.१४२। ३. मो० ३.२७। ४. मो० ३.३४।

सहितोरु + ऊ = सहितोरू

संहितोरु + ऊ = संहितोरू

४. **नी प्रत्यय**[1]

बन्धु + **नी** = बन्धुनी

भिक्खु + **नी** = भिक्खुनी

पटु + **नी** = पटुनी

विञ्ञू + **नी** = विञ्ञूनी

५. **इनी प्रत्यय**[2]

मोर + **इनी** = मोरिनी (मयूरी)

यक्ख + **इनी** = यक्खिनी (यक्षिणी)

राजा + **इनी** = राजिनी (राज्ञी)

नाग + **इनी** = नागिनी

६. **आनी प्रत्यय**[3]

मातुल + **आनी** = मातुलानी

वरुण + **आनी** = वरुणानी

खत्तिय + **आनी** = खत्तियानी

आचरिय + **आनी** = आचरियानी (आचार्य-पत्नी)

७. **ति प्रत्यय**[4]

युव + **ति** = युवति

---

१. मो० ३.३० । २. मो० ३.२८ । ३. मो० ३.३३ । ४. मो० ३.३५ ।

ग्यारहवाँ अध्याय

कारक

पालि में कारक सम्बन्धी नियम कुछ विशेषताओं को छोड़कर संस्कृत के ही समान हैं। सामान्यतः विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

१. द्वितीया विभक्ति

(१) तृतीया विभक्ति > द्वितीया विभक्ति
स मया आलपिष्यति = सो मं आलपिस्सति ।

(२) षष्ठी विभक्ति > द्वितीया विभक्ति
तस्य खलु पुनः भगवतः = तं खो पन भगवन्तं ।[२]

(३) सप्तमी विभक्ति > द्वितीया विभक्ति
एकस्मिन् समये भगवान् = एकं समयं भगवा ।[१]

२. तृतीया विभक्ति

सप्तमी विभक्ति > तृतीया विभक्ति
तस्मिन् खलु पुनः समये = तेन खो पन समयेन ।[३]

३. पञ्चमी विभक्ति

तृतीया विभक्ति > पञ्चमी विभक्ति
अननुबोधेन अप्रतिव्यधेन चतुर्णामार्यसत्यानां यथाभूतमदर्शनेन = अननुबोधा अप्पटिवेधा चतुन्नं अरियसच्चानं यथाभूतं अदस्सना ।[४]

४. षष्ठी विभक्ति

(१) द्वितीया विभक्ति > षष्ठी विभक्ति
न तान् कश्चित् स्मरति = न तेसं कोचि सरति ।[५]

(२) तृतीया विभक्ति > षष्ठी विभक्ति
एवं मया श्रुतम् = एवं मे सुतं ।[६]

---

१. क० २.६.३७ । २. क० २.६.३६ । ३. क० २.६.२० । ४. क० २.६.२६ । ५. क० २.६.३९ । ६. क० २.६.३८ ।

(३) पञ्चमी विभक्ति>षष्ठी विभक्ति
सर्वे त्रसन्ति दण्डात्>सब्बे तसन्ति दण्डस्स।

(४) सप्तमी विभक्ति > षष्ठी विभक्ति
द्वौ यक्षौ भगवति प्रसन्नौ आस्ताम्=द्वे यक्खा भगवतो पसन्ना अहेसुं।

५. सप्तमी विभक्ति

(१) चतुर्थी विभक्ति > सप्तमी विभक्ति
सङ्घाय दत्तं महाफलम्=सङ्घे दिन्नं महप्फलं।[1]

(२) पञ्चमी विभक्ति > सप्तमी विभक्ति
कदलीभ्यो गजान् रक्षन्ति=कदलीसु गजे रक्खन्ति।[2]

---

१. क० २.६.४१। २. क० २.६.३९।

बारहवाँ अध्याय

अव्यय

साधारणतया पालि मे संस्कृत के ही समान अव्यय हैं। थोड़ी बहुत स्वर-व्यञ्जन सम्बन्धो भिन्नता अवश्य है किन्तु उसके लिये स्वर-व्यञ्जन परिवर्तन सम्बन्धी नियम ही पर्याप्त हैं। अतः यहाँ पर पालि के अव्ययों का संक्षिप्त परिचय ही दिया जा रहा है।

अव्यय मुख्य रूप से दो प्रकार के होते हैं—१. उपसर्ग तथा २. निपात।[१] निपात-अव्यय तीन प्रकार के होते हैं—१. क्रियाविशेषण, २. समुच्चयबोधक तथा ३. मनोविकारसूचक।[२]

१. उपसर्ग

संस्कृत के निस् एवं निर् के स्थान पर पालि मे केवल नी उपसर्ग उपलब्ध होता है। इसी प्रकार संस्कृत के दुस् एवं दुर् के स्थान पर पालि मे दु उपसर्ग प्रयुक्त होता है। अतः पालि में उपसर्गों की संख्या २२ से घटकर २० ही रह गई है।[३]

उपसर्ग से कभी अर्थ एकदम उलट जाता है, कभी अर्थ में परिवर्तन हो जाता है तो कभी अर्थ में विशेषतामात्र आती है।[४] जैसे—

(१) गच्छति=जाता है; आगच्छति=आता है।

(२) भवति=होता है; पराभवति=पराजित होता है।

(३) जानाति=जानता है, पजानाति=अच्छी तरह जानता है।

२. निपात

(१) क्रियाविशेषण

अग्गतो (अग्रतः)=सामने।
अज्ज (अद्य)=आज़।

---

१. क० २.४.११। २. पालि० पृ० ३७। ३. क० २.४.११ की वृत्ति।

४. धात्वत्थं बाधते कोचि कोचि तं अनुवत्तते।
तमेवञ्ञो विसेसेति उपसग्गगतो त्रिधा॥ क० पृ० ११९।

अतीव (अतीव)=बहुत ।
अत्थ (अत्र)=यहाँ
अद्धा (अद्धा)=सचमुच
अधुना (अधुना)=अब
अधो (अधः)=नीचे
अन्तरा (अन्तरा)=मध्य में
अन्तरेन (अन्तरेण)=मध्य में, बिना ।
अप्पेव (अप्येव)=सम्भवतः ।
अप्पेव नाम (अप्येवनाम)=सम्भवतः ।
अभिक्खणं, अभिण्हं (अभीक्ष्णम्)=बहुधा ।
अमुत्र (अमु=अदस्+त्र)=परलोक ।
आरका, आरा (आरात्)=दूर ।
आवि (आविस्)=स्पष्टतः ।
इदानि (इदानीम्)=इस समय ।
ईस (ईषत्)=थोड़ा ।
उच्चं (उच्चैः)=ऊँचा ।
एत्तावता (एतावत्)=इतना, अबतक ।
एवं (एवम्)=ऐसे ।
कच्चि (कच्चित्)=क्या ।
कामं (कामं)=निस्सन्देह ।
किंसु (किमु)=क्यों (सन्देहात्मक) ।
कीव (कियत्)=कितना ।
कुदाचनं (कदाचित्)=कभी ।
कुहिञ्चनं (कुत्रचित्)=कहीं ।
चन (चन)=थोड़ा (अनिश्चयवाचक) ।
चिरं (चिरम्)=दीर्घकाल ।
चिरेण (चिरेण)=विलम्ब से ।
जातु (ज़ातु)=सम्भवतः, कभी-कभी ।
तथरिव (तथैव)=उसी प्रकार ।
तग्ध (?)=निश्चित रूप से ।
ताव, तावता (तावत्)=तव तक (अवधि) ।
तिरियं (तिर्यक)=टेढ़े पन से, तिरछा ।
तुण्ही (तूष्णीम्)=चुपचाप ।
ननु (ननु)=विरोध सूचक अव्यय ।

नाना (नाना)=भिन्न ।
नु (नु)=सन्देहसूचक अव्यय ।
नीचं (नीचैः)=नीचा ।
पसय्ह (प्रसह्य) = जबरदस्ती ।
रिते (ऋते)=बिना ।
सच्छि (साक्षाद्)=प्रत्यक्ष ।
सज्जु (सद्यः)=तुरन्त ।
सुवत्थि (स्वस्ति)=आशीर्वाद ।
सेय्यथापि (तद्=से यथापि) = जैसे ।

उपर्युक्त संक्षिप्त रूप से उदाहरणस्वरूप दिये गये क्रियाविशेषणों की भाँति अन्य क्रियाविशेषण भी जानना चाहिये ।

(२) समुच्चयबोधक

उद (उत्, उत)=सन्देहसूचक ।
उदाहु (उताहो)=सन्देहसूचक ।
किमु, किंसु (किमु)=या (सन्देहात्मक)
च (च) = और ।
चे (चेत्)=यदि ।
यदि (यदि)=यदि ।
सचे (चेत्)=यदि

(३) मनोविकारसूचक

एवं (एवम्) = हाँ ।
अहो (अहो)=आश्चर्यसूचक ।
धि (धिक्)=धिक्कार ।
भो (भोः) = हे ।
हन्द (हन्त)=प्रेरणासूचक ।

प्रकीर्णक

कुछ अव्यय अर्थहीन होते हुए भी वाक्य में प्रयुक्त होते हैं। वे इस प्रकार हैं—अस्सु (स्म), खो (खलु), चे (चेत्), पन (पुनः), सुद (स्विद्) आदि ।

———

तेरहवाँ अध्याय

शब्द-रूप

प्रमुख विशेषताएँ

(१) द्विवचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग, जैसे—पुरुषौ=पुरिसा, मुनिभ्याम्=मुनीभि, मुनीहि ।[1]

(२) तृतीया एवं पञ्चमी विभक्तियों के बहुवचनों के रूपों में समानता, जैसे—पुरुषैः, पुरुषेभ्यः=पुरिसेभि, पुरिसेहि ।[2]

(३) चतुर्थी एव षष्ठी विभक्तियों के बहुवचनों के रूपों में समानता, जैसे—पुरुषेभ्यः, पुरुषाणाम्=पुरिसानं ।[2]

(४) सर्वनाम शब्द-रूपों का संज्ञा शब्द-रूपों पर प्रभाव, जैसे—पुरुषात्=पुरिसस्मा, पुरुषे = पुरिसस्मिं ।[3]

(५) अकारान्त शब्द-रूपों पर अन्य शब्द-रूपों का प्रभाव, जैसे—मुनेः = मुनिस्स ।

(६) व्यञ्जनान्त शब्द-रूपों के अन्तिम व्यञ्जन का लोप, किन्तु स्वरान्त शब्द-रूपों में लुप्त व्यञ्जन का फिर से अस्तित्व; जैसे—भगवान्=भगवा, भगवति=भगवति ।

(७) शब्द-रूपों पर संस्कृत एवं प्राकृत के शब्द-रूपों का मिश्रित प्रभाव, जैसे—
गच्छन् (सं०), गच्छन्तो (प्रा०)=गच्छं, गच्छन्तो (पालि); गिरिभिः (सं०), गिरीहि (प्रा०)=गिरीभि, गिरीहि (पालि); पुरुषाय (सं०), पुरिसस्स (प्रा०)=पुरिसाय, पुरिसस्स (पालि) ।

विभक्ति-प्रत्यय-परिवर्तन[4]

विभक्ति	एकवचन		बहुवचन	
	संस्कृत	पालि	संस्कृत	पालि
प्रथमा	सु	सि	जस्	यो
द्वितीया	अम्	अं	शस्	यो

१ गायगर ७७.१ । २ वही, ७७.२ । ३ वही, ७८.२ । ४ पा० ४ १.२, क० २.१.४ ।

तृतीया	टा	ना	भिस्	हि
चतुर्थी	ङे	स	भ्यस्	नं
पञ्चमी	ङसि	स्मा	भ्यस्	हि
षष्ठी	ङस्	स	आम्	नं
सप्तमी	ङि	स्मिं	सुप्	सु

१. संज्ञा शब्द

१.१ अजन्त पुंलिङ्ग

(१) अकारान्त **पुरिस** (पुरुष)

प्रथमा	पुरिसो[१]	पुरिसा[२]
द्वितीया	पुरिसं	पुरिसे[३]
तृतीया	पुरिसेन	पुरिसेभि, पुरिसेहि[४]
चतुर्थी	पुरिसाय, पुरिसस्स[५]	पुरिसानं[५]
पञ्चमी	पुरिसा,[६] पुरिसस्मा,[७] पुरिसम्हा	पुरिसेभि, पुरिसेहि
षष्ठी	पुरिसस्स	पुरिसानं[८]
सप्तमी	पुरिसे, पुरिसस्मिं,[७] पुरिसम्हि	पुरिसेसु
सम्बोधन	पुरिस, पुरिसा	पुरिसा

(२) इकारान्त **कवि**

प्रथमा	कवि	कवी[९] कवयो
द्वितीया	कविं	कवी, कवयो[१०]
तृतीया	कविना	कवीभि, कवीहि
चतुर्थी	कविनो,[११] कविस्स[१२]	कवीनं
पञ्चमी	कविना,[१३] कविस्मा, कविम्हा	कवीभि, कवीहि

---

१ अः > ओ। २ आः > आ। ३ सर्वनाम शब्द-रूपावली का प्रभाव। ४ वैदिक प्रत्यय एभिस् का प्रयोग। ५ चतुर्थी विभक्ति > षष्ठी विभक्ति। ६ **पुरुषात्** > **पुरिसा**। ७ **स्मात्** > **स्मा, म्हा; स्मिन्** > **स्मिं, स्मिन्** > **स्मि** > **म्हि.** सर्वनाम शब्द रूपावली का प्रभाव। ८ **पुरुषाणाम्** > **पुरिसानं**। ९ संस्कृत द्विवचन > पालि बहुवचन। १० प्रथमा विभक्ति बहुवचन का प्रभाव। ११ नकारान्त नपुंसकलिङ्ग या **इनि** प्रत्ययान्त शब्दों की रूपावली का प्रभाव। १२ अकारान्त शब्द-रूपावली का प्रभाव। १३ तृतीया विभक्ति एकवचन > पञ्चमी विभक्ति एकवचन।

षष्ठी	कविनो, कविस्स	कवीनं
सप्तमी	कविस्मिं, कविम्हि	कवीसु
सम्बोधन	कवि	कवी, कवयो

(३) उकारान्त **भिक्खु** (भिक्षु)

प्रथमा	भिक्खु	भिक्खू, भिक्खवो
द्वितीया	भिक्खुं	भिक्खू, भिक्खवो
सम्बोधन	भिक्खु	भिक्खू, भिक्खवो, भिक्खवे[1]

शेष रूप कवि शब्द के समान।

(४) ऊकारान्त **सब्बञ्ञू** (सर्वज्ञ)

प्रथमा	सब्बञ्ञू	सब्बञ्ञू, सब्बञ्ञुनो
द्वितीया	सब्बञ्ञुं	सब्बञ्ञू, सब्बञ्ञुनो
सम्बोधन	सब्बञ्ञु	सब्बञ्ञू, सब्बञ्ञुनो

शेष रूप कवि शब्द के समान।

(५) ऋकारान्त पितृ=**पितु**[2]

प्रथमा	पिता[2]	पितरो
द्वितीया	पितरं	पितरो, पितरे
तृतीया	पितरा	पितरेभि, पितरेहि, पितूभि, पितूहि
चतुर्थी	पितु,[3] पितुनो, पितुस्स	पितरानं, पितानं पितूनं[4]
पञ्चमी	पितरा	पितरेभि, पितरेहि, पितूभि, पितूहि
षष्ठी	पितु,[3] पितुनो, पितुस्स	पितरानं, पितानं, पितूनं[4]
सप्तमी	पितरि	पितरेसु, पितूसु
सम्बोधन	पित,[5] पिता	पितरो

१ भगवान् बुद्ध द्वारा भिक्षुओं के लिए प्रयुक्त प्रिय सम्बोधन। २ **पितृ** > **पितु, पितर** (पितर चतुर्थी एवं षष्ठी विभक्ति के एकवचन में नहीं होता है) : ३ संस्कृत रूपावली का प्रभाव। ४ **पितृणाम्** > **पितूनं**। ५ **नदी** शब्द के सम्बोधन-रूप का प्रभाव।

नत्तु (नप्तृ), **होतु** (होतृ) एवं **पोतु** (पोतृ) और विशेषणवाचक **दातु** (दातृ) आदि शब्दों के रूप **पितु** (पितृ) शब्द के रूपों की भाँति होते हैं किन्तु सप्तमी विभक्ति के एकवचन को छोड़कर शेष स्थलों पर **र** से पूर्ववर्ती **अ** को दीर्घ होता है।

(६) ओकारान्त गो[1]

प्रथमा	गो[2]	गवो, गावो
द्वितीया	गवं, गावं, गावुं	गवो, गावो
तृतीया	गवेन, गावेन	गोभि, गोहि
चतुर्थी	गवस्स, गावस्स	गवं, गोनं, गुन्नं[3]
पञ्चमी	गवा, गवस्मा, गवम्हा गावा, गावस्मा, गावम्हा	गोभि, गोहि
षष्ठी	गवस्स, गावस्स	गवं, गानं, गुन्नं[3]
सप्तमी	गवे, गवस्मिं, गवम्हि गावे, गावस्मिं, गावम्हि	गवेसु, गावेसु, गोसु
सम्बोधन	गो	गवो, गावो

१.२ अजन्त स्त्रीलिङ्ग

(१) आकारान्त लता

प्रथमा	लता	लता, लतायो[4]
द्वितीया	लतं	लता, लतायो[4]
तृतीया	लताय[5]	लताभि, लताहि
चतुर्थी	लताय[5]	लतानं
पञ्चमी	लताय[5]	लताभि, लताहि
षष्ठी	लताय[5]	लतानं
सप्तमी	लताय, लतायं[6]	लतासु
सम्बोधन	लते	लता, लतायो[4]

---

१ **गो > गव, गाव।** २ **गौः > गौ > गो।** ३ **गोनाम् > गोनं > गुन्नं,** अकारान्त शब्द-रूपावली का प्रभाव। ४ **सुधियो** की तरह। ५ **लतायाः > लताया > लताय** (पञ्चमी = तृतीया, षष्ठी = चतुर्थी)। ६ **लतायाम् > लतायं।**

(२) इकारान्त **बोधि**

प्रथमा	बोधि	बोधी, बोधियो[1]
द्वितीया	बोधिं	बोधी,[1] बोधियो
तृतीया	बोधिया[2]	बोधीभि, बोधीहि
चतुर्थी	बोधिया[2]	बोधीनं
पंचमी	बोधिया[2]	बोधीभि, बोधीहि
षष्ठी	बोधिया[2]	बोधीनं
सप्तमी	बोधिया, बोधियं	बोधीसु
सम्बोधन	बोधि	बोधी,[1] बोधियो

(३) इकारान्त **रत्ति** (रात्रि)

प्र० द्वि०	—	रत्यो
तृ० से ष०	रत्या,[3]	—
सप्तमी	रत्या, रत्यं	—

इन अतिरिक्त रूपों के साथ बोधि शब्द के समान।

(४) ईकारान्त **देवी**

प्रथमा	देवी	—

शेष रूप बोधि शब्द के समान।

(५) ईकारान्त **नदी**

प्र० द्वि०	नदी	नज्जो[4]
तृ० से ष०	नज्जा[4]	—
स०	नज्जा, नज्जं[4]	—

इन अतिरिक्त रूपों के साथ बोधि शब्द के समान।

(६) उकारान्त **धेनु**

सभी रूप बोधि शब्द के समान।

---

१. संस्कृत द्विवचन, > पालि बहुचन। २. **बोध्याः >बोध्या > बोधिया** (विसर्गलोप, स्वरभक्ति) ३. **राश्याः > रात्या > रत्या।** ४. **नद्यः > नद्यो > नज्जो, नद्याः > नद्या > नज्जा, नद्याम् > नद्यं > नज्जं (वर्ग-परिवर्तन, समानीकरण)।**

(७) ऊकारान्त वधू

सभी रूप देवी शब्द के समान।

(८) ऋकारान्त मातृ>मातु

प्रथमा	माता	मातरो
द्वितीया	मातरं	मातरो
तृतीया	मातरा, मातुया	मातरेभि, मातरेहि
चतुर्थी	मातु, मातुया	मातूनं, मातरानं
पंचमी	मातरा, मातुया	मातरेभि, मातरेहि
षष्ठी	मातु, मातुया	मातूनं, मातरानं
सप्तमी	मातरि, मातुया, मातुयं	मातूसु
सम्बोधन	मात, माता	मातरो

१.३ अजन्त नपुंसकलिङ्ग

(१) अकारान्त फल

प्रथमा	फलं	फला[1], फलानि
द्वितीया	--	फले[1], फलानि
सम्बोधन	—	फला[1], फलानि

शेष रूप पुरिस (पुरुष) शब्द के समान।

(२) इकारान्त अक्खि (अक्षि)

प्रथमा	--	अक्खी, अक्खीनि
द्वितीया	--	अक्खी, अक्खीनि
सम्बोधन	--	अक्खी, अक्खीनि

शेष रूप कवि शब्द के समान।

(३) उकारान्त चक्खु (चक्षु)

प्रथमा	—	चक्खू, चक्खुनि
द्वितीया	—	चक्खू, चक्खूनि
सम्बोधन	—	चक्खू, चक्खूनि

शेष रूप भिक्खु (भिक्षु) शब्द के समान।

---

१ पुलिङ्ग की शब्दरूपावली का प्रभाव।

१.४ हलन्त पुंलिङ्ग

(१) तकारान्त गुणवत्>**गुणवन्तु**[1]

प्रथमा	गुणवा[2]	गुणवन्तो, गुणवन्ता
द्वितीया	गुणवन्तं	गुणवन्तो, गुणवन्ते
तृतीया	गुणवता, गुणवन्तेन	गुणवन्तेभि, गुणवन्तेहि
चतुर्थी	गुणवतो, गुणवन्तस्स	गुणवतं, गुणवन्तानं
पञ्चमी	गुणवता गुणवन्तस्मा, गुणवन्तम्हा	गुणवन्तेभि, गुणवन्तेहि
षष्ठी	गुणवतो, गुणवन्तस्स	गुणवतं, गुणवन्तानं
सप्तमी	गुणवति, गुणवन्ते गुणवन्तस्मि, गुणवन्तम्हि	गुणवन्तेसु
सम्बोधन	गुणवा	गुणवन्तो, गुणवन्ता

(२) तकारान्त **गच्छन्त** (गच्छत्)

प्रथमा	गच्छं, गच्छन्तो	गच्छन्तो, गच्छन्ता
सम्बोधन	गच्छं	गच्छन्तो, गच्छान्ता

शेष रूप गुणवन्तु (गुणवत्) शब्द के समान

(३) नकारान्त दण्डिन्>**दण्डी**[3]

प्रथमा	दण्डी	दण्डी, दण्डिनो
द्वितीया	दण्डिं, दण्डिनं	दण्डी, दण्डिनो
तृतीया	दण्डिना	दण्डीभि, दण्डीहि
चतुर्थी	दण्डिनो, दण्डिस्स	दण्डीनं
पञ्चमी	दण्डिना, दण्डिस्मा, दण्डिम्हा	दण्डीभि, दण्डीहि
षष्ठी	दण्डिनो, दण्डिस्स	दण्डीनं
सप्तमी	दण्डिनि, दण्डिस्मि, दण्डिम्हि	दण्डीसु
सम्बोधन	दण्डी	दण्डी, दण्डिनो

---

१. **गुणवत्** (संस्कृत) तथा **गुणवन्त** (प्राकृत) शब्दों की रूपावली का मिश्रित प्रभाव। २. **गुणवान्** > **गुणवा**। ३. **कवि** तथा **दण्डिन्** शब्दों की रूपावली का मिश्रित प्रभाव।

(४) नकारान्त आत्मन्>**अत्त**[1]

प्रथमा	अत्ता	अत्तानो
द्वितीया	अत्तं, अत्तानं,	अत्तानो
तृतीया	अत्तना, अत्तेन	अत्तेभि, अत्तेहि, अत्तनेभि, अत्तनेहि
चतुर्थी	अत्तनो	अत्तानं
पञ्चमी	अत्ताना, अत्तस्मा, अत्तम्हा	अत्तेभि, अत्तेहि, अत्तनेभि, अत्तनेहि
षष्ठी	अत्तनो	अत्तानं
सप्तमी	अत्तनि	अत्तनेसु
सम्बोधन	अत्त, अत्ता	अत्तानो

(५) नकारान्त राज (राजन्)

प्रथमा	राजा[2]	राजानो[2]
द्वितीया	राजं,[3] राजानं	राजानो[4]
तृतीया	राजेन, रञ्ञा[5]	राजेभि, राजेहि, राजूभि, राजूहि
चतुर्थी	राजस्स, रञ्ञो	राजानं, रञ्ञं
पञ्चमी	राजस्मा, राजम्हा, रञ्ञा	राजेभि, राजेहि, रञ्ञूभि, रञ्ञूहि
षष्ठी	राजस्स, रञ्ञो	राजानं, रञ्ञं
सप्तमी	राजस्मि, राजम्हि, रञ्ञे	राजेसु, राजूसु
सम्बोधन	राज, राजा	राजानो

१.५ हलन्त नपुंसकलिङ्ग

सकारान्त मनस्>**मन**[6]

प्रथमा	मनो[7] मनं[8]	मना, मनानि
द्वितीया	मनो, मनं	मने, मनानि
तृतीया	मनेन, मनसा	मनेभि, मनेहि
चतुर्थी	मनस्स, मनसो	मनानं
पञ्चमी	मना, मनस्मा, -म्हा, मनसा	मनेभि, मनेहि

---

१. **आत्मन् > अत्त, अत्तन** । २. संस्कृत शब्द-रूपावली का प्रभाव । ३. **राजन् > राज** । ४. प्रथमा विभक्ति बहुवचन का प्रभाव । ५. **राज्ञा > राञ्ञा > रञ्ञा** (**ज्ञ > ञ्ञ**) । ६. **मनस् > मन** (व्यञ्जन परे रहते) । ७. **मनः > मनो** । ८. **फल** शब्द के समान ।

षष्ठी	मनस्स, मनसो	मनानं
सप्तमी	मने, मनस्मि,-म्हि, मनसि	मनेसु
सम्बोधन	मन, मना	मनानि

२. सर्वनाम शब्द

(१) सब्ब (सर्व) शब्द के रूप

	पुंलिङ्ग		स्त्रीलिङ्ग		नपुंसकलिङ्ग	
प्र०	सब्बो	सब्बे	सब्बा	सब्बा,-यो	सब्बं	सब्बानि
द्वि०	सब्बं	सब्बे	सब्बं	सब्बा,-यो	सब्बं	सब्बानि
तृ०	सब्बेन	सब्बेभि,-हि	सब्बाय	सब्बाभि,-हि	शेष पुं० के समान	
च०	सब्बस्स	सब्बेसं[1],-सानं	सब्बाय, सब्बस्सा	सब्बासं,-सानं		
प०	सब्बस्मा,-म्हा	सब्बेभि,-हि	सब्बाय	सब्बाभि,-हि		
ष०	सब्बस्स	सब्बेसं,-सानं	सब्बाय, सब्बस्सा	सब्बासं,-सानं		
स०	सब्बस्मिं,-म्हि	सब्बेसु	सब्बायं, सब्बस्सं	सब्बासु		

अन्य सर्वनाम शब्दों के रूप कुछ विशेषताओं को छोड़कर सब्ब (सर्व) शब्द के समान होते है। विशेषताएँ निम्नलिखित हैं--

(२) य (यद्) शब्द नपुंसकलिङ्ग

प्र० द्वि०	—	ये,[2]

(३) त (तद्) शब्द

	पुंलिङ्ग		स्त्रीलिङ्ग		नपुंसकलिङ्ग	
प्र०	सो	--	सा	—	—	ते,....[2]
द्वि०	—	—	—	—	—	ते,....[2]
तृ०	—	—	तस्सा, तिस्सा[3]	—	—	--
च०	अस्स,	—	तस्साय, अस्सा,-य	---	--	—
प०	अस्मा,	--	तस्सा, तिस्सा	—	—	—
ष०	अस्स	—	तस्साय, अस्सा,-य	—	--	--
स०	अस्मिं,	--	अस्सं	—	--	—

१. **नुद्** एवं **सुद्**—दोनों का आगम। २. पुंलिङ्ग शब्द-रूपावली का प्रभाव, या द्विवचन > बहुवचन। ३. **तस्याः** (संस्कृत), **तिस्सा** (प्राकृत)।

इसके अतिरिक्त तकार को नकार भी हो जाता है तब, ने, नं, नेन आदि रूप चलेंगे।

(४) क (किम्) शब्द

	पुंलिङ्ग		स्त्रीलिङ्ग		नपुंसकलिङ्ग	
प्र० द्वि०	—	—	—	—	किं,	के,····
च० ष०	किस्स,	—	—	—	शेष रूप पुलिङ्गके समान	
स०	किस्मि,-म्हि	—				

(५) एत (एतद्) शब्द

	पुंलिङ्ग		स्त्रीलिङ्ग		नपुंसकलिङ्ग	
प्र०	एसो	—	एसा	—	—	एते····
द्वि०	एनं	एने	--	—	—	एते···
च० ष०	—	—	एतिस्सा,-साय	—	—	
स०	—	—	एतिस्सं	—	—	

(६) इम (इदम्) शब्द

	पुंलिङ्ग		स्त्रीलिङ्ग		नपुंसकलिङ्ग	
प्र०	अयं	—	अयं	—	इदं,	इमे,
द्वि०	—	—	--	—	इदं,	इमे,
तृ०	अनेन, इमिना	एभि,-हि	—	—	शेष पुलिङ्गके समान	
च०	अस्स,····	एसं, सानं;	अस्सा,-य, इमिस्सा,-य	—		
प०	अस्मा,····	एभि,-हि	—	—		
ष०	अस्स,····	एसं,-सानं····	अस्सा,-य, इमिस्सा,-य	—		
स०	अस्मि····	एसु,····	अस्सं, इमिस्सं,	—		

(७) अमु (अदस्) शब्द

	पुंलिङ्ग		स्त्रीलिङ्ग		नपुंसकलिङ्ग	
प्र०	असु, अमु,-को	—	असु····	—	अदुं····	अमू,····
द्वि०	—	—	—	—	अदुं—	अमू····
च०, ष०	—	अमूसं,-सानं	अमुस्सा,	अमूसं,-सानं	शेष रूप पुलिङ्ग के समान	
स०	—	—	अमुस्सं,-यं	—		

शेष रूप भिक्खु के समान   शेष रूप धेनु के समान

(८) अम्ह (अस्मद्) शब्द

(तीनों लिङ्ग में)

प्रथमा	अहं	मयं, अम्हे, नो
द्वितीया	मं, ममं	अम्हे, अम्हाकं, अम्हं, नो
तृतीया	मया, मे	अम्हेभि,-हि, नो
चतुर्थी	मय्हं, मम, ममं, मे	अम्हं अम्हाकं अस्माकं नो
पञ्चमी	मया	अम्हेभि, अम्हेहि,
षष्ठी	मय्हं, मम, ममं, मे	अम्हं, अम्हाकं, अस्माकं, नो
सप्तमी	मयि	अस्मासु, अम्हेसु

(९) तुम्ह (युष्मद्) शब्द

(तीनों लिङ्ग)

प्रथमा	त्वं, तुवं	तुम्हे, वो
द्वितीया	त्वं तवं, तुवं, तं	तुम्हे, तुम्हाकं, तुम्हं, वो
तृतीया	त्वया, तया, ते	तुम्हेभि, तुम्हेहि, वो
चतुर्थी	तुय्हं, तव, तुम्हं, ते	तुम्हाकं, तुम्हं, वो
पंचमी	त्वया, तया	तुम्हेभि, तुम्हेहि
षष्ठी	तुय्हं, तव, तुम्हं, ते	तुम्हाकं, तुम्हं, वो
सप्तमी	त्वयि, तयि	तुम्हेसु

३. संख्यावाचक शब्द

(१) **एक** शब्द के रूप सभी लिङ्गों, विभक्तियों एवं वचनों में सब्ब शब्द के समान होते हैं किन्तु नपुंसकलिङ्ग में प्रथमा एवं द्वितीया विभक्तियों के बहुवचन में **एकानि** के साथ-साथ **एके** रूप भी होता है।

(२) **द्वि, ति** (त्रि) तथा **चतु** (चतुर्) शब्द के रूप केवल बहुवचनों में ही चलते हैं। वे इस प्रकार हैं—

	द्वि शब्द	**ति** (त्रि) शब्द		
	तीनों लिङ्ग	पुंलिङ्ग	स्त्रीलिङ्ग	नपुसकलिङ्ग
प्र० द्वि०	द्वे, दुवे[1]	तयो	तिस्सो	तीणि
तृ० पं०	द्वीभि,-हि	तीभि,-हि	तीभि,-हि	शेष पुं० के समान

१. द्वे > **दुवे,** (स्वरभक्ति)।

च० ष०	द्विन्नं, दुविन्नं[1]	तिण्णं,-तिण्णन्नं	तिस्सन्नं
स०	द्वीसु	तीसु	तीसु

चतु (चतुर्) शब्द

	पुंलिङ्ग	स्त्रीलिङ्ग	नपुंसकलिङ्ग
प्र० द्वि०	चत्तारो, चतुरो	चतस्सो	चत्तारि
तृ० पं०	चतूभि,-हि	चतूभि,-हि	—
च० ष०	चतुन्नं	चतस्सन्नं	—
स०	चतूसु	चतूसु	—

(३) **पञ्च** (पञ्चन्) से लेकर **अट्ठादस** (अष्टादशन्) शब्दों तक के रूप सदा बहुवचन में चलते हैं तथा सभी लिङ्गों में समान होते हैं। जैसे—

	पञ्च (पञ्चन् शब्द)	**अट्ठादस** (**अष्टादशन्**) **शब्द**
	सभी लिङ्गो में	सभी लिङ्गों में
प्र० द्वि०	पञ्च	अट्ठादस
तृ० प०	पञ्चभि,-हि	अट्ठादसभि,-हि
च० ष०	पञ्चन्नं	अट्ठादसन्नं
स०	पञ्चसु	अट्ठादससु

(४) एकूनवीसति (एकोनविंशति) से लेकर अट्ठनवुति (अष्टानवति) तक के शब्दों के रूप इकारान्त होने पर बोधि एवं आकारान्त होने पर लता शब्द के एकवचन के समान चलते हैं।

(५) एकूनसत (एकोनशत) से लेकर सहस्स (सहस्र) तक के रूप फल शब्द के एकवचन के समान चलते हैं।

———

१. द्विन्नं > दुविन्नं (स्वरभक्ति)।

चौदहवाँ अध्याय

धातु-रूप

प्रमुख विशेषताएँ[1]

(१) परस्मैपद एवं आत्मनेपद के बन्धन में शिथिलता, जैसे—भवति= भवति, भवते; लभते = लभति, लभते ।

(२) द्विवचन के स्थान पर बहुवचन, जैसे - भवतः = भवन्ति ।

(३) भ्वादिगण के धातुरूपों की ओर अन्य गणों के धातुरूपों का झुकाव, रुणद्धि=रुन्धति ।

(४) अदादिगण, जुहोत्यादिगण तथा तुदादिगण का भ्वादिगण में अन्तर्भाव ।

(५) लुट् और आशीर्लिङ् को छोड़कर शेष आठ लकारों का अस्तित्व । उनके नाम इस प्रकार हैं—

लट्=वत्तमाना, लिट्=परोक्खा, लृट्=भविस्सन्ती, लोट्= पञ्चमी, लङ्=हीयत्तनी, विधिलिङ्=सत्तमी, लुङ्=अज्जतनी तथा लृङ्=कालातिपत्ति ।

(६) धातुरूपों पर संस्कृत एवं प्राकृत के धातुरूपों का मिश्रित प्रभाव, जैसे—कहेइ (प्रा०), कथयति (सं०)=कथेति, कथयति ।

(७) लङ्, लुङ् तथा लृङ् लकारों में धातुरूपों के प्रारम्भ में अ का आगम विकल्प से होता है ।

१. कर्तृवाच्य

भ्वादिगण (भुवादिगण)

विकरण–अ (शप्)>अ ।

---

१. द्र०—गायगर १२० ।

पच धातु

लट् (वर्त्तमाना)

परिनिष्ठित धातु-प्रत्यय[1]

	परस्मैपद				आत्मनेपद			
पुरुष	एकवचन		बहुवचन		एक वचन		बहुपचन	
	सं०	पा०	सं०	पा०	सं०	पा०	सं०	पा०
प्रथम	ति	ति	अन्ति	अन्ति	ते	ते	अन्ते	अन्ते
मध्यम	सि	सि	थ	थ	से	से	ध्वे	व्हे[2]
उत्तम	मि	मि	मस्	म	इ	ए	महे	म्हे[3]

धातु-रूप

प्रथम	पचति	पचन्ति	पचते	पचन्ते
मध्यम	पचसि	पचथ	पचसे	पचव्हे
उत्तम	पचामि	पचाव	पचे	पचाम्हे

लिट् (परोक्खा)

परिनिष्ठित धातु-रूप[4]

	परस्मैपद				आत्मनेपद			
पुरुष	एकवचन		बहुवचन		एकवचन		बहुयचन	
	सं०	पा०	सं०	पा०	मं०	पा०	सं०	पा०
प्रथम	अ	अ	उस्	उ	ए	त्थ	इरे	रे
मध्यम	थ	ए	अ	त्थ	से	त्थो	ध्वे	व्हो
उत्तम	अ	अ	म	म्ह	ए	ए	महे	म्हे

धातु-रूप[5]

प्रथम	पपाच	पपचु	पपचित्थ	पपचिरे[6]
मध्यम	पपचे	पपचित्थ	पपचित्थो	पपचिव्हो
उत्तम	पपच	पपचिम्ह	पपचि	पपचिम्हे

---

१. बृह० पृ० ४, १३; क० ४.१.१८। ३. ध्वे > व्हे (वर्ण-विपर्यय, ऊष्मीकरण)। ३. महे > म्हे (मध्यम स्वर का लोप)। ४, बृह० पृ० ५-७, १४, क० ३.१.२१। ५. संस्कृत (लिट्) तथा पालि (लुङ्) का मिश्रित प्रभाव। ६. द्र० वैदिक रूप।

लृट् (भविस्सन्ती)

परिनिष्ठित धातु-प्रत्यय[1]

पुरुष	परस्मैपद एकवचन		परस्मैपद बहुवचन		आत्मनेपद एकवचन		आत्मनेपद बहुवचन	
	सं०	पा०	सं०	पा०	सं०	पा०	सं०	पा०
प्रथम	स्यति	स्सति	स्यन्ति	स्सन्ति	स्यते	स्सते	स्यन्ते	स्सन्ते
मध्यम	स्यसि	स्ससि	स्यथ	स्सथ	स्यसे	स्ससे	स्यध्वे	स्सव्हे
उत्तम	स्यामि	स्सामि	स्यामः	स्साम	स्ये	स्सं	स्यामहे	स्साम्हे

धातुरूप

प्रथम	पचिस्सति	पचिस्सन्ति	पचिस्सते	पचिस्सन्ते
मध्यम	पचिस्ससि	पचिस्सथ	पचिस्ससे	पचिस्सव्हे
उत्तम	पचिस्सामि	पचिस्साम	पचिस्सं	पचिस्साम्हे

लोट् (पञ्चमी)

परिनिष्ठित धातु-प्रत्यय[2]

पुरुष	परस्मैपद एकवचन		परस्मैपद बहुवचन		आत्मनेपद एकवचन		आत्मनेपद बहुवचन	
	सं०	पा०	सं०	पा०	सं०	पा०	सं०	पा०
प्रथम	तु, तात्	तु	अन्तु	अन्तु	ताम्	तं	अन्ताम्	अन्तं
मध्यम	हि, तात्	हि	त	थ	स्व	स्सु	ध्वम्	व्हो
उत्तम	आनि	मि	आम	म	ऐ	ए	आमहै	आमसे

धातु-रूप

प्रथम	पचतु	पचन्तु	पचतं	पचन्तं
मध्यम	पच, पचाहि[3]	पचथ[4]	पचस्सु	पचव्हो
उत्तम	पचामि[4]	पचाम	पचे	पचामसे[5]

---

१. बृह० पृ० ९,१४; क० ३.१.२४। २. बृह० पृ० ४.१३; क० ३.१ १९। ३. लट् लकार की रूपावली का प्रभाव। ४. आख्याहि के समान। ५. द्र०—वैदिक रूप।

लङ् (ह्यियत्तनी)

परिनिष्ठित धातु-प्रत्यय[1]

पुरुष	परस्मैपद एकवचन सं०	पा०	बहुवचन सं०	पा०	आत्मनेपद एकवचन सं०	पा०	बहुवचन सं०	पा०
प्रथम	त्	आ	अन्	ऊ	त	त्थ	अन्त	त्थुं
मध्यम	स्	ओ	त	त्थ	थास्	से	ध्वम्	व्हं
उत्तम	म्	अ	म	म्हा	इ	इं	महि	म्हसे

धातु-रूप

पुरुष	परस्मैपद एकवचन	परस्मैपद बहुवचन	आत्मनेपद एकवचन	आत्मनेपद बहुवचन
प्रथम	अपचा	अपचू	अपचत्थ	अपचत्थुं
मध्यम	अपचो	अपचित्थ	अपचि	अपचव्हं
उत्तम	अपच	अपचिम्हा	अपचि	अपचाम्हसे

पक्ष में प्रारम्भिक अ का अभाव।[2]

विधिलिङ् (सप्तमी)

परिनिष्ठित धातु-प्रत्यय[3]

पुरुष	परस्मैपद एकवचन सं०	पा०	बहुवचन सं०	पा०	आत्मनेपद एकवचन सं०	पा०	बहुवचन सं०	प०
प्रथम	एत्	एय्य	एयुः	एय्युं	एत	एथ	एरन्	एरं
मध्यम	एः	एय्यासि	एत	एय्याथ	एथाः	एथो	एध्वम्	एय्यव्हो
उत्तम	एयम्	एय्यामि	एम	एय्याम	एय	एय्यं	एमहि	एय्याम्हे

धातु-रूप

पुरुष	परस्मैपद एकवचन	परस्मैपद बहुवचन	आत्मनेपद एकवचन	आत्मनेपद बहुवचन
प्रथम	पचे,[4], पचेय्य[5]	पचेय्युं	पचेथ	पचेरं
मध्यम	पचे[4], पचेय्यासि	पचेय्याथ	पचेथो	पचेय्यव्हो
उत्तम	पचे पचेय्यामि	पचेय्याम	पचेय्यं	पचेय्याम्हे

---

१. बृह० पृ० ५, १३; क० ३.१.२२। २. अ (अट्) आगम एक व्यञ्जन की धातु में नित्य होता है, जैसे—अगा, दो व्यञ्जनों की धातु में (जिसके संस्कृत लुङ् के रूपों मे स रहता हो) भी नित्य होता है, जैसे—अवोचुं, दो व्यञ्जनों की धातु में (जिसके संस्कृत लुङ् के रूपों में इष् रहता हो) विकल्प से होता है जैसे—लभि; अलभि। ३. बृह० पृ० ५, १३, क० ३.१.२०। ४. **पचेत्, पचेः>पचे**। ५. **एय>एय्य**।

लुङ् (अज्जतनी)

परिनिष्ठित धातु-प्रत्यय[1]

	परस्मैपद				आत्मनेपद			
पुरुष	एकवचन		बहुवचन		एकवचन		बहुवचन	
	सं०	पा०	सं०	पा०	सं०	पा०	सं०	पा०
प्रथम	त्	ई	उस्	उं	त	आ	न्त	ऊ
मध्यम	स्	ओ	त	त्थ	थास्	से	ध्वम्	व्हं
उत्तम	अम्	इं	म	म्हा	इ	अ	महि	म्हे

संस्कृत में अन्य परिनिष्ठित धातु-प्रत्यय भी होते हैं जिन्हें विस्तारभय से यहाँ नहीं दिया गया है।

धातु-रूप

प्रथम	अपचि	अपचिंसु	अपचा	अपचू
मध्यम	अपचो	अपचित्थ	अपचिसे	अपचिव्हं
उत्तम	अपचिं	अपचिम्हा	अपच	अपचिम्हे

पक्ष में प्रारम्भिक अ का अभाव।

ऌङ् (कालातिपत्ति)

परिनिष्ठित धातु-प्रत्यय[2]

	परस्मैपद				आत्मनेपद			
पुरुष	एकवचन		बहुवचन		एकवचन		बहुवचन	
	सं०	पा०	सं०	पा०	सं०	पा०	सं०	पा०
प्रथम	स्यत्	स्सा	स्यन्	स्संसु	स्यत	स्सथ	स्यन्त	स्सिसु
मध्यम	स्यः	स्से	स्यत	स्सथ	स्यथाः	स्ससे	स्यध्वम्	स्सव्हे
उत्तम	स्यम्	स्सं	स्याम	स्सम्हा	स्ये	स्सं	स्यामहि	स्साम्हसे

धातु-रूप

प्रथम	अपचिस्सा	अपचिस्संसु	अपचिस्सथ	अपचिंस्सिसु
मध्यम	अपचिस्से	अपचिस्सथ	अपचिस्ससे	अपचिस्सव्हे
उत्तम	अपचिस्सं	अपचिस्सम्हा	अपचिस्सं	अपचिस्साम्हसे

पक्ष में प्रारम्भिक अ का अभाव।

---

१. बृह० पृ० १०-१२, १५, क० ३.१.२३। २. बृह० पृ० १२, १५, क० ३.१.२५।

१.२ भ्वादिगण के अतिरिक्त अन्य गणों की धातु-रूपावली विकरण-जन्य भेद को छोड़कर साधारणतया भ्वादिगण के समान ही होती है जो कि प्रस्तुत तालिका से स्पष्ट है—

गण	विकरण	धातु	लट्	लृट्	लुङ्
दिवादि	य	दिव	दिब्बति	दिब्बिस्सति	दिब्बि, अदिब्बि
स्वादि	णु, णा उण	सु	सुणोति	सुणिस्सति	सुणि, अस्सोसि
रुधादि	अं····अ	रुध	रुन्धति	रुन्धिस्सति	रुन्धि, अरुन्धि
तनादि	ओ, यिर	तन	तनोति	तनिस्सति	तनि, अतनि
क्र्यादि	ना	की	किणाति	किणिस्सति	किणि, अकिणि
चुरादि	ए (णे),अय (णय)	चुर	चोरेति	चोरेस्सति	चोरयि, अचोरयि

२. कर्मवाच्य तथा ३. भाववाच्य

प्रत्यय – यक् >य ।[1]

पच्यते=पच्चते, नीयते=नीयते, गीयते=गीयते ।

४. णिजन्त

प्रत्यय – अय् (णिच्) > ए (णे), अय (णय), आपे (णापे) तथा आपय (णापय) ।[2]

पाचयति=पाचेति, पाचयति, पाचापेति तथा पाचापयति ।

५. सन्नन्त

प्रत्यय – सन्>ख, छ, स, ।[3]

बुभुक्षति=बुभुक्खति, जिघत्सति=जिघच्छति, पिवासति=पिपासति ।

६. यङन्त

प्रत्यय – यङ्>धातु को द्वित्व ।[4]

चङ्क्रम्यते=चङ्कमति, लालप्यते=लालपति ।

७. नामधातु

प्रत्यय—क्यङ्, क्यच्>आय, ईय ।[5]

पर्वतायते=पब्बातायति, पुत्रीयति=पुत्तीयति ।

———

१. पा० ३.१.६७, क० ३.२.९ । २. पा० ३.१.२६, क० ३.२.७ । ३. पा० ३.१.७, क० ३.२.२-३, ३.३.१-१० । ४. पा०, ३.१.२२ क० ३.३.१ । ५. पा० ३.१.८, क० ३.२.४-५ ।

भाग : २

संकलन

पिटक-साहित्य[1]

१. सुहल्लक्खणानि[2]

चत्तारोमे, गहपतिपुत्त, मित्ता सुहदा वेदितब्बा—उपकारको मित्तो सुहदो वेदितब्बो, समानसुखदुक्खो मित्तो सुहदो वेदितब्बो, अत्थक्खायी मित्तो सुहदो वेदितब्बो, अनुकम्पको मित्तो सुहदो वेदितब्बो।

चतूहि खो, गहपतिपुत्त, ठानेहि उपकारको मित्तो सुहदो वेदितब्बो।

(संस्कृतच्छाया)

चत्वारीमानि गृहपतिपुत्र ! मित्राणि सुहृदो वेदितव्यानि---उपकारकं मित्रं सुहृद् वेदितव्यम्, समानसुखदुःखं मित्रं सुहृद् वेदितव्यम्, अर्थाख्यायि मित्रं सुहृद् वेदितव्यम्, अनुकम्पकं मित्रं सुहृद् वेदितव्यम्।

चतुर्भिः खलु गृहपतिपुत्र! स्थानैरुपकारकं मित्रं सुहृद् वेदितव्यम्। प्रमत्तं

(हिन्दी अनुवाद)

हे गृहपति-पुत्र ! इन चार मित्रों को सुहृद जानना चाहिये—उपकार करने वाले मित्र को सुहृद् जानना चाहिये, सुख-दुःख में समान रहने वाले मित्र को सुहृद् जानना चाहिये, उपयोग की बात कहने वाले मित्र को सुहृद् जानना चाहिये (तथा) अनुकम्पा करते वाले मित्र को सुहृद जानना चाहिये।

हे गृहपति-पुत्र ! चार कारणों से उपकार करने वाले मित्र को सुहृद् जानना

---

१. पिटक या त्रिपिटक (सुत्त, विनय एवं अभिधम्म) साहित्य पालि भाषा का प्राचीनतम साहित्य है। इसमें भगवान् बुद्ध के समस्त उपदेशों का संग्रह किया गया है। स्थविर बौद्ध परम्परा के अनुसार इसका सर्वप्रथम संगायन ई० पू० ४८४ लगभग तथा लेखन ई० पू० प्रथम शताब्दी में किया गया था। त्रिपिटक साहित्य में भाषा के गाथा एवं गद्य---ये दो रूप मिलते हैं। इनमें गाथा-भाग अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन एवं वैदिक संस्कृत के बहुत निकट है।

२. प्रस्तुत गद्यांश दीघनिकाय पालि (खण्ड ३) में संकलित सिगालोवादसुत्त (पृ० १४४-१४५) से उद्धृत किया गया है। इस पाठ में भगवान् बुद्ध द्वारा सिगाल (शृगाल) गृहपति पुत्र (वैश्यपुत्र) को दिया गया सच्चे मित्र की पहचान सम्बन्धी उपदेश है।

पमत्तं रक्खति, पमत्तस्स सापतेय्यं रक्खति, भीतस्स सरणं होति, उप्पन्नेसु किच्चकरणीयेसु तद्दिगुणं भोगं अनुप्पदेति—इमेहि खो, गहपतिपुत्त, चतूहि ठानेहि उपकारको मित्तो सुहदो वेदितब्बो।

चतूहि खो, गहपतिपुत्त, ठानेहि समानसुखदुक्खो मित्तो सुहदो वेदितब्बो। गुय्हमस्स आचिक्खति, गुय्हमस्स परिगूहति, आपदासु न विजहति, जीवितं पिस्स अत्थाय परिच्चत्तं होति—इमेहि खो, गहपतिपुत्त, चतूहि ठानेहि समान-सुखदुक्खो मित्तो सुहदो वेदितब्बो।

चतूहि खो, गहपतिपुत्त, ठानेहि अत्थक्खायी मित्तो सुहदो वेदितब्बो।

(संस्कृतच्छाया)

रक्षति, प्रमत्तस्य स्वापतेयं रक्षति, भीतस्य शरणं भवति, उत्पन्नेषु कृत्यकरणी-येषु तद् द्विगुणं भोगं अनुप्रददाति—एभिः खलु गृहपतिपुत्र! चतुर्भिः स्थानै-रुपकारकं मित्रं सुहृद् वेदितव्यम्।

चतुर्भिः खलु गृहपतिपुत्र! स्थानैः समानसुखदुःखं मित्रं सुहृद् वेदितव्यम्। गुह्यमस्य आचष्टे गुह्यमस्य परिगूहति, आपत्सु न विजहाति जीवितमप्यस्याऽर्थाय परित्यक्तं भवति—एभिः खलु गृहपतिपुत्र! चतुर्भिः स्थानैः समानसुखदुःखं मित्रं सुहृद् वेदितव्यम्।

चतुर्भिः खलु गृहपतिपुत्र! स्थानैरर्थाख्यायि मित्रं सुहृद् वेदितव्यम्।

(हिन्दी-अनुवाद)

चाहिये। नशे में चूर व्यक्ति की रक्षा करता है, नशे में चूर व्यक्ति की सम्पत्ति की रक्षा करता है, भयभीत व्यक्ति का रक्षक होता है (तथा) काम पड़ने पर उसे दुगुना फल उत्पन्न करवाता है—हे गृहपति-पुत्र! इन चार कारणों से उपकार करने वाले मित्र को सुहृद जानना चाहिये।

हे गृहपति-पुत्र! चार कारणों से सुख-दुःख में समान रहने वाले मित्र को सुहृद् जानना चाहिये। उसके लिये रहस्य बतलाता है, उसके रहस्य की रक्षा करता है, आपत्तियों में नहीं छोड़ता है (तथा) उसके लिये प्राण भी त्यागने को (तैयार) रहता है—हे गृहपति पुत्र! इन चार कारणों से सुख-दुःख में समान रहने वाले मित्र को सुहृद् जानना चाहिये।

हे गृहपति-पुत्र! चार कारणों से उपयोग की बात कहने वाले मित्र को सुहृद्

पापा निवारेति, कल्याणे निवेसेति, अस्सुतं सावेति, सग्गस्स मग्गं आचिक्खति—इमेहि खो, गहपतिपुत्त, चतूहि ठानेहि अत्थक्खायी मित्तो सुहदो वेदिततब्बो।

चतूहि खो, गहपतिपुत्त, ठानेहि अनुकम्पको मित्तो सुहदो वेदितब्बो। अभवेनस्स न नन्दति, भवेनस्स नन्दति, अवण्णं भणमानं निवारेति, वण्णं भणमानं पसंसति—इमेहि खो, गहपतिपुत्त, चतूहि ठानेहि अनुकम्पको मित्तो सुहदो वेदितब्बो।

(संस्कृतच्छाया)

पापान्निवारयति, कल्याणे निवेशयति, अश्रुतं श्रावयति, स्वर्गस्य मार्गमाचष्टे—एभिः खलु गृहपतिपुत्र ! चतुर्भिः स्थानैरर्थाख्यायि मित्रं सुहृद् वेदितव्यम्।

चतुर्भिः खलु गृहपतिपुत्र ! स्थानैरनुकम्पकं मित्रं सुहृद् वेदितव्यम्। अभवेनाऽस्य न नन्दति, भवेनास्य नन्दति, अवर्णं भणन्तं निवारयति, वर्णं भणन्तं प्रशंसति—एभिः खलु गृहपतिपुत्र ! चतुर्भिः स्थानैरनुकम्पकं मित्रं सुहृद् वेदितव्यम्।

(हिन्दी अनुवाद)

जानना चाहिये। पाप से हटाता है, शुभ कर्म में प्रवेश कराता (लगाता) है, नहीं सुनी हुई बात को सुनाता है (तथा) स्वर्ग का मार्ग बतलाता है—हे गृहपति-पुत्र ! इन चार कारणों से उपयोग की बात कहने वाले मित्र को सुहृद जानना चाहिये।

हे गृहपति-पुत्र ! चार कारणों से अनुकम्पा करने वाले मित्र को सुहृद जानना चाहिये। उसके लिए (धन सम्पत्ति) न होने पर प्रसन्न नहीं होता है, उसके लिए (धन सम्पत्ति) होने पर प्रसन्न होता है, बुराई कहने वाले को रोकता है (तथा) अच्छाई कहने वाले की प्रशंसा करता है—हे गृहपति-पुत्र ! इन चार कारणों से अनुकम्पा करने वाले मित्र को सुहृद् जानना चाहिये।

---

२. मनुष्य-भेदा:[1]

एकं समयं भगवा सावत्थियं विहरति जेतवने अनाथपिण्डिकस्स आरामे। तत्र खो आयस्मा सारिपुत्तो भिक्खू आमन्तेसि—"आवुसो भिक्खवे" ति। "आवुसो" ति खो ते भिक्खू आयस्मतो सारिपुत्तस्स पच्चस्सोसुं। आयस्मा सारिपुत्तो एतदवोच—

"चत्तारोमे, आवुसो, पुग्गला सन्तो संविज्जमाना लोकस्मिं। कतमे चत्तारो? इधावुसो, एकच्चो पुग्गलो साङ्गणो व समानो 'अत्थि मे अज्झत्तं अङ्गणं' ति यथाभूतं नप्पजानाति। इध पनावुसो, एकच्चो पुग्गलो साङ्गणो व

(संस्कृतच्छाया)

एकस्मिन् समये भगवान् श्रावस्त्यां विहरति जैत्रवने अनाथपिण्डिकस्याऽरामे। तत्र खलु आयुष्मान् शारिपुत्रो भिक्षून् आममन्त्रयत्—"आयुष्मन्तो भिक्षवः" इति। आयुष्मन्तः इति खलु ते भिक्षव आयुष्मतः शारिपुत्रस्य प्रत्यश्रौषिषुः। आयुष्मान् शारिपुत्र एतदवोचत्—

"चत्वार इमे, आयुष्मन्तः! पुद्गलाः सन्तः संविद्यमानाः लोके। कतमे चत्वारः? इहायुष्मन्तः! एकतरः पुद्गलः साङ्गन इव समानः 'अस्ति मे अध्यात्ममङ्गनम्—इति यथाभूतं न प्रजानाति। इह पुनः आयुष्मन्तः! एकतरः पुद्गलः

(हिन्दी-अनुवाद)

एक समय भगवान् श्रावस्ती में अनाथपिण्डिक के जेतवन (नामक) बगीचे में विहार करते थे। वहाँ आयुष्मान् सारिपुत्र ने भिक्षुओं को सम्बोधित किया—"आवुस भिक्षुओ!" "आवुस" (इस प्रकार कह) उन भिक्षुओं ने आयुष्मान् सारिपुत्र को उत्तर दिया। आयुष्मान् सारिपुत्र ने यह कहा—

आवुस! लोक में चार (प्रकार के) पुद्गल (व्यक्ति) विद्यमान हैं। कौन से चार? आवुस! यहाँ कोई मनुष्य चित्तमल से युक्त होता हुआ भीतर चित्तमल है—इसे ठीक से नहीं जानता है। यहाँ कोई व्यक्ति चित्तमल सहित होता हुआ, मेरे भीतर चित्तमल है—इसे ठीक से जानता है। यहाँ कोई

---

१. प्रस्तुत गद्यांश मज्झिमनिकायपालि (खण्ड १) में संकलित अनङ्गण सुत्त (पृ० ३३) से उद्धृत किया गया है। इसमें राग, द्वेष एवं मोह से युक्त (साङ्गण तथा उनसे रहित (अनङ्गण) व्यक्तियों के चार भेदों का वर्णन है।

समानो 'अत्थि मे अज्झत्तं अङ्गणं' ति यथाभूतं पजानाति। इधावुसो, एकच्चो पुग्गलो अनङ्गणो व समानो 'नत्थि मे अज्झत्तं अङ्गणं' ति यथाभूतं नप्पजानाति। इध पनावुसो, एकच्चो पुग्गलो अनङ्गणो व समानो 'नत्थि मे अज्झत्तं अङ्गणं' ति यथाभूतं पजानाति।

तत्रावुसो, य्वायं पुग्गलो साङ्गणो व समानो 'अत्थि मे अज्झत्तं अङ्गणं' ति यथाभूतं नप्पजानाति, अयं इमेसं द्विन्नं पुग्गलानं साङ्गणानं येव सतं हीनपुरिसो अक्खायति। तत्रावुसो, य्वायं पुग्गलो साङ्गणो व समानो 'अत्थि मे अज्झत्तं अङ्गणं' ति यथाभूतं पजानाति, अयं इमेसं द्विन्नं पुग्गलानं साङ्गणानं येव सतं सेट्ठपुरिसो अक्खायति। तत्रावुसो, य्वायं पुग्गलो अनङ्गणो व समानो 'नत्थि मे अज्झत्तं अङ्गणं' ति यथाभूतं नप्पजानाति अयं इमेसं द्विन्नं पुग्गलानं

(संस्कृतच्छाया)

साञ्जन इव समानः 'अस्ति मे अध्यात्ममञ्जनम् इति यथाभूतं प्रजानाति। इहायुष्मन्तः! एकतरः पुद्गलोऽनञ्जन इव समानः 'नास्ति मे अध्यात्ममञ्जनम्' –इति यथाभूतं न प्रजानाति। इह पुनः आयुष्मन्तः! एकतरः पुद्गलोऽनञ्जन इव समानः' नास्ति मे अध्यात्ममञ्जनम्' इति यथाभूतं प्रजानाति।

तत्रायुष्मन्तः! योऽयं पुद्गलः साञ्जन इव समानः 'अस्ति मे अध्यात्ममञ्जनम्' —इति यथाभूतं न प्रजानाति, अयमनयो द्वयोः पुद्गलयोः साञ्जनयोरेव सतोः हीनपुरुष आख्यायते। तत्रायुष्मन्तः! योऽयं पुद्गलः साञ्जन इव समानः अस्ति मे अध्यात्ममञ्जनम् इति—यथाभूतं प्रजानाति, अयमनयोः द्वयोः पुद्गलयोः साञ्जनयोरेव सतोः श्रेष्ठपुरुष आख्यायते। तत्रायुष्मन्तः! योऽयं पुद्गलोऽनञ्जन इव समानः 'नास्ति मे अध्यात्ममञ्जनम्' इति यथाभूतं न प्रजा-

(हिन्दी-अनुवाद)

व्यक्ति चित्तमल से रहित होता हुआ, मेरे भीतर चित्तमल नहीं है,—इसे ठीक से नहीं जानता है। यहाँ कोई व्यक्ति चित्तमल से रहित होता हुआ मेरे भीतर चित्तमल नहीं है,—इसे ठीक से जानता है।

आवुस! इनमें से जो वह व्यक्ति चित्तमल सहित होता हुआ भी, मेरे भीतर चित्तमल है—इसे ठीक से नहीं जानता है, वह इन चितमल सहित दोनों व्यक्तियों में हीन पुरुष कहा जाता है और आवुस! उनमें से जो वह व्यक्ति चित्तमल सहित होता हुआ, मेरे भीतर चित्तमल है—इसे ठीक से जानता है, वह इन चित्तमल सहित दोनों व्यक्तियों में श्रेष्ठ पुरुष कहा जाता है। आवुस! यहाँ जो वह व्यक्ति चित्त-मल से रहित होता हुआ, मेरे भीतर चित्तमल नहीं है–इसे ठीक से नहीं जानता है, वह

अनङ्गणानं येव सतं हीनपुरिसो अक्खायति । तत्रावुसो, य्वायं पुग्गलो अनङ्गणो व समानो 'नत्थि मे अज्झत्तं अङ्गणं' ति यथाभूतं पजानाति, अयं इमेसं द्विन्नं पुग्गलानं अनङ्गणानं येव सतं सेट्ठपुरिसो अक्खायती" ति ।

(संस्कृतच्छाया)

नाति, अयमनयो द्वयोः पुद्गलयोरनङ्गनयोरेव सतोः हीनपुरुष आख्यायते । तत्रायुष्यन्तः ! योऽयं पुद्गलोऽनङ्गन इव समानः 'नास्ति मे अध्यात्ममङ्गनम्' इति यथाभूतं प्रजानाति, अयमनयोः द्वयोः पुद्गलयोरनङ्गनयोरेव सतोः श्रेष्ठ-पुरुष आख्यायते इति ।

(हिन्दी-अनुवाद)

इन चित्तमल से रहित दोनों व्यक्तियों में हीन पुरुष कहा जाता है । और आवुस ! यहाँ जो वह व्यक्ति चित्तमल रहित होता हुआ, मेरे भीतर चित्तमल नहीं है—इसे ठीक से जानता है, वह इन चित्तमल से रहित दोनों व्यत्तियों में श्रेष्ठ पुरुष कहा जाता है ।

---

३ कृषिमाहात्म्यम्[1]

तेन खो पन समयेन कसिभारद्वाजस्स ब्राह्मणस्स परिवेसना वत्तति। अथ खो भगवा येन परिवेसना तेनुपसङ्कमि; उपसङ्कमित्वा एकमन्तं अट्ठासि। अद्दसा खो कसिभारद्वाजो ब्राह्मणो भगवन्तं पिण्डाय ठितं। दिस्वा भगवन्तं एतदवोच—"अहं खो, समण, कसामि च वपामि च, कसित्वा च वपित्वा च भुञ्जामि। त्वं पि, समण, कसस्सु च वपस्सु च, कसित्वा च वपित्वा च भुञ्जस्सू" ति।

"अहं पि खो, ब्राह्मण, कसामि च वपामि च, कसित्वा च वपित्वा च भुञ्जामि" ति।

(संस्कृतच्छाया)

तस्मिन् खलु पुनः समये कृषिभारद्वाजस्य ब्राह्मणस्य परिवेषणा वर्तते। अथ खलु भगवान् यत्र परिवेषणा तत्रोपसमक्रमीत्; उपसङ्क्रम्य एकान्तम् अस्थात्। अद्राक्षीत् खलु कृषिभारद्वाजो ब्राह्मणो भगवन्तं पिण्डाय स्थितम्। दृष्ट्वा भगवन्तं एतदवोचत्- "अहं खलु श्रमण! कर्षामि च वपामि च, कृष्ट्वा च उप्त्वा च भुञ्जे। त्वमपि, श्रमण! कर्ष च वप च, कृष्ट्वा च उप्त्वा च भुङ्क्ष्व" इति।

"अहमपि खलु, ब्राह्मण! कर्षामि च वपामि च, कृष्ट्वा च उप्त्वा च भुञ्जे" इति।

(हिन्दी-अनुवाद)

उस समय कृषि-भारद्वाज ब्राह्मण का परोसना हो रहा था। तब भगवान् जहाँ परोसना (हो रहा था) वहाँ गये (तथा) जाकर एक ओर खड़े हो गये। कृषि-भारद्वाज ब्राह्मण ने भिक्षा के लिए खड़े भगवान् को देखा, देखकर भगवान् से यह कहा—हे श्रमण! मैं जोतता-बोता हूँ, जोत-बोकर खाता हूँ। श्रमण! तुम भी जोतो और बोओ और जोत-बोकर खाओ।

(तब भगवान् ने कहा) हे ब्राह्मण मैं भी जोतता-बोता हूँ और जोत-बोकर खाता हूँ।

---

१. प्रस्तुत गद्य-पद्यांश संयुत्तनिकायपालि (खण्ड १) में संकलित कसिभारद्वाजसुत्त (पृ० १७१-१७२) से उद्धृत किया गया है। इसमें भगवान् बुद्ध की अमृतफल-दायिनी खेती का वर्णन है।

"न खो मयं पस्साम भोतो गोतमस्स युगं वा नङ्गलं वा फालं वा पाचनं वा बलीवद्दे वा, अथ च पन भवं गोतमो एवमाह—'अहं पि खो, ब्राह्मण, कसामि च वपामि च, कसित्वा च वपित्वा च भुञ्जामी" ति।

अथ खो कसिभारद्वाजो ब्राह्मणो भगवन्तं गाथाय अज्झभासि—

"कस्सको पटिजानासि, न च पस्सामि ते कसिं।
कस्सको पुच्छितो ब्रूहि, कथं जानेमु तं कसिं" ति॥
"सद्धा बीजं तपो वुट्ठि, पञ्ञा मे युगनङ्गलं।
हिरी ईसा मनो योत्तं, सति मे फालपाचनं॥
कायगुत्तो वचीगुत्तो, आहारे उदरे यतो।
सच्चं करोमि निद्दानं, सोरच्चं मे पमोचनं॥

(संस्कृतच्छाया)

"न खलु वयं पश्यामः भवतो गौतमस्य युगं वा लाङ्गलं वा फालं वा पाचनं वा बलीवर्दौ वा, अथ च पुनः भवान् गौतमः एवमाह-अहमपि खलु, ब्राह्मण, कर्षामि च वपामि च, कृष्ट्वा च उप्त्वा च भुञ्जे" इति।

अथ खलु कृषिभारद्वाजो ब्राह्मणो भगवन्तं गाथायां अध्यभाषिष्ट—

कर्षकः प्रतिजानासि, न च पश्यामि ते कृषिम्।
कर्षकः पृष्टो ब्रूहि कथं जानानि तां कृषिम्"॥
"श्रद्धा बीजं तपो वृष्टिः प्रज्ञा मे युगलाङ्गलम्।
ह्रीः ईषा मनो योत्रं स्मृतिः मे फाल-पाचनम्॥
कायगुप्तो वचोगुप्त आहारे उदरे यतः।
सत्यं करोमि निर्दानं सौरत्यं मे प्रमोचनम्॥

(हिन्दी-अनुवाद)

तब कृषि-भारद्वाज ब्राह्मण ने भगवान् से गाथा में कहा—(आप अपने को) कृषक बताते हो (लेकिन) आपकी कृषि को नहीं देखता हूँ। कृषक पूछता हूँ, कहो (हम आपकी) उस कृषि को कैसे जानें? (तब भगवान् बुद्ध के कहा कि) श्रद्धा मेरा बीज है, तप वृष्टि है, प्रज्ञा मेरा जुआ और हल है, लज्जा हरिस (हल की लम्बी लकड़ी) है, मन जोत है, स्मृति फाल और छकुनी है। काम से संयत, वचन से संयत, पेट के आहार में संयत (मैं) सत्य की निराई करता है तथा श्रेष्ठ रति का भाव

विरियं मे धुरधोरय्हं, योगक्खेमाधिवाहनं।
गच्छति अनिवत्तन्तं, यत्थ गन्त्वा न सोचति॥
एवमेसा कसी कट्ठा, सा होति अमतप्फला।
एतं कसिं कसित्वान, सब्बदुक्खा पमुच्चती" ति॥

"भुञ्जतु भवं गोतमो। कस्सको भवं। यं हि भवं गोतमो अमतप्फलं पि कसिं कसती" ति।

(संस्कृतच्छाया)

वीर्यं मे धुरधौरेयं योगक्षेमाधिवाहनम्।
गच्छति अनिवर्तमानं यत्र गत्वा न शोचति॥
एवमेषा कृषिः कृष्टाः सा भवति अमृतफला।
एतां कृषिं कृष्ट्वा, सर्वदुःखात् प्रमुच्यते" इति॥

"भुङ्क्ताम् भवान् गौतम ! कर्षको भवान्। यो हि भवान् अमृतफलामपि कृषिं कर्षति" इति।

(हिन्दी अनुवाद)

मेरा प्रमोचन है। वीर्य मेरा निर्वाण की ओर ले जाने वाला बैल है। वह बिना लौटे हुए (वहाँ) जा रहा है जहाँ जाकर दुःख नहीं होता है। इस प्रकार की गई यह (जो मेरी) कृषि है, वह अमृत फल (को देने) वाली है। इस कृषि को कर के समस्त दुःखों से छुटकारा हो जाता है।

आप गौतम खायें। आप कृषक (हैं) क्योंकि आप गौतम अमृत फल वाली खेती को भी करते हैं।

---

४. पातिव्रत्यम्[1]

अथ खो भगवा पुब्बण्हसमयं निवासेत्वा पत्तचीवरमादाय येन अनाथपिण्डिकस्स गहपतिस्स निवेसनं तेनुपसङ्कमि, उपसङ्कमित्वा पञ्ञत्ते आसने निसीदि। तेन खो पन समयेन अनाथपिण्डिकस्स गहपतिस्स निवेसने मनुस्सा उच्चासद्दा महासद्दा होन्ति। अथ खो अनाथपिण्डिको गहपति येन भगवा तेनुपसङ्कमि, उपसङ्कमित्वा भगवन्तं अभिवादेत्वा एकमन्तं निसीदि। एकमन्तं निसिन्नं खो अनाथपिण्डिकं गहपतिं भगवा एतदवोच—"किं नु ते, गहपति, निवेसने मनुस्सा उच्चासद्दा महासद्दा केवट्टा मञ्ञे मच्छविलोपे" ति ?

(संस्कृतच्छाया)

अथ खलु भगवान् पूर्वाह्णसमयं निवस्य पात्रचीवरमादाय यत्र अनाथपिण्डिकस्य गृहपतेः निवेशनं तत्रोपसमक्रमीत्; उपसङ्क्रम्य प्रज्ञप्ते आसने न्यसदत्। तत्र खलु पुनः समये अनाथपिण्डिकस्य गृहपतेः निवेशने मनुष्याः उच्चैःशब्दा महाशब्दा भवन्ति। अथ खलु अनाथपिण्डिको गृहपतिः यत्र भगवान् तत्रोपसमक्रमीत्; उपसङ्क्रम्य भगवन्तं अभिवाद्य एकान्तं न्यसदत्। एकान्तं निषण्णं खलु अनाथपिण्डिकं गृहपतिं भगवान् एतदवोचत्—"किं ननु ते गृहपते! निवेशने मनुष्या उच्चैःशब्दा महाशब्दाः कैवर्ताः मन्ये मत्स्यविलोपे,' इति।

(हिन्दी-अनुवाद)

इसके बाद भगवान् पूर्वाह्ण समय (वस्त्र) पहिनकर पात्र-चीवर ले जहाँ अनाथपिण्डिक गृहपति का घर (था) वहाँ गये, जाकर बिछे हुए आसन पर बैठ गये। उस समय अनाथपिण्डिक गृहपति के घर में मनुष्य जोर से भारी शब्द कर रहे थे। इसके बाद अनाथपिडिक गृहपति जहाँ भगवान् (थे) वहाँ गया, जाकर भगवान् को प्रणाम कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे हुए अनाथपिण्डिक गृहपति से भगवान् ने यह कहा—हे गृहपति! तुम्हारे घर में मनुष्य जोर से भारी शब्द क्यों कर रहे हैं मानों मछलियाँ मारने में मल्लाह (कर रहे हों)? भन्ते! यह सुजाता गृहवधू धनी

१. प्रस्तुत गद्यपद्यांश अंगुत्तरनिकायपालि (खण्ड ३) में संकलित भरियासुत्त (पृ० २२३-२२४) से उद्धृत किया गया है। इसमें भगवान् बुद्ध ने सुजाता नामक असंयत कुलवधू को सुधारने की दृष्टि से पत्नी के सात भेदों का वर्णन किया जिन्हें सुनकर उस (सुजाता) ने दासीसमा पत्नी बनकर रहने का निश्चय किया।

अयं, भन्ते, सुजाता घरसुण्हा अड्ढकुला आनीता। सा नेव सस्सुं आदियति, न ससुरं आदियति, न सामिकं आदियति, भगवन्तं पि न सक्करोति न गरुं करोति न मानेति न पूजेती" ति।

अथ खो भगवा सुजातं घरसुण्हं आमन्तेसि—"एहि, सुजाते" ति! "एवं, भन्ते" ति खो सुजाता घरसुण्हा भगवतो पटिस्सुत्वा येन भगवा तेनुपसङ्कमि; उपसङ्कमित्वा भगवन्तं अभिवादेत्वा एकमन्तं निसीदि। एकमन्तं निसिन्नं खो सुजातं घरसुण्हं भगवा एतदवोच—"सत्त खो इमा, सुजाते, पुरिसस्स भरियायो। कतमा सत्त? वधकसमा, चोरीसमा, अय्यसमा, मातासमा, भगिनीसमा, सखीसमा, दासीसमा।

(संस्कृतच्छाया)

"अयं भदन्त ! सुजाता गृहस्नुषा आढ्यकुलाद् आनीता। सा नैव श्वश्रुम् आद्रियते, न श्वशुरम् आद्रियते, न स्वामिकम् आद्रियते, भगवन्तम् अपि न सत्करोति, न गुरुं करोति न मानयति न पूजयति" इति।

अथ खलु भगवान् सुजातां गृहस्नुषां अममन्त्रत्—"एहि सुजाते इति। "एवं भदन्त" इति खलु सुजाता गृहस्नुषा भगवन्तं प्रतिश्रुत्य यत्र भगवान् तत्रोपसमक्रमीत्; उपसङ्क्रम्य भगवन्तम् अभिवाद्य एकान्तं न्यसदत्। एकान्तं निषण्णां खलु सुजातां गृहस्नुषां भगवान् एतदवोचत्—"सप्त खलु इमाः सुजाते! पुरुषस्य भार्याः।" "कतमाः सप्त?" "वधकसमा, चौरीसमा, आर्यसमा मातृसमा, भगिनीसमा, सखीसमा, दासीसमा।"

(हिन्दी-अनुवाद)

घराने से लाई गई है। वह न सास का ही आदर करती है, न ससुर का आदर करती है, न पति का आदर करती है, भगवान् का भी न सत्कार करती है, न गुरु मानती है, न आदर करती है (और) न पूजा करती है। तब भगवान् ने सुजाता गृहवधू को बुलाया—हे सुजाते ! आओ। "अच्छा भन्ते" इस प्रकार गृहवधू सुजाता ने भगवान् को सुनाकर, जहाँ भगवान् (थे) वहाँ गई, जाकर भगवान् को अभिवादन कर एक ओर बैठ गई। एक ओर बैठी हुई सुजाता गृहवधू से भगवान् ने यह कहा—हे सुजाते ! पुरुष की ये सात (प्रकार की) पत्नियाँ होती है। कौन सी सात ? वधक-समा, चोरीसमा, आर्यासमा, मातासमा, भगिनीसमा, सखीसमा (तथा) दासीसमा।

'या चीध भरिया वधका' ति वुच्चति,
'चोरी च अय्या' ति च या पवुच्चति ।
दुस्सीलरूपा फरुसा अनादरा,
कायस्स भेदा निरयं वजन्ति ता ॥
'या चीध माता भगिनी सखी' ति च,
'दासी च भरिया' ति च सा पवुच्चति ।
सीले ठितत्ता चिररत्तसंवुता,
कायस्स भेदा सुगतिं वजन्ति ता' ति ॥

इमा खो, सुजाते, सत्त पुरिसस्स भरियायो । तासं त्वं कतमा " ति ? "अज्जतग्गे मं, भन्ते, भगवा दासीसमं सामिकस्स भरियं धारेतू" ति ।

(संस्कृतच्छाया)

'या चेह भार्या वधका' इति उच्यते,
'चौरी च आर्या' इति च या प्रोच्यते ।
दुःशीलरूपात् परुषाद् अनादरात्,
कायस्य भेदात् नरकं व्रजन्ति ताः ॥
'या चेह माता भगिनी सखी' इति च ।
'दासी च भार्या' इति च सा प्रोच्यते ।
शीले स्थितत्वात् चिररात्रसंवृता
कायस्य भेदात् सुगतिं व्रजन्ति ताः' इति ॥

"तासां त्वं कतमा" इति ? "अद्यतोऽग्रे मां, भदन्त ! भगवान् दासीसमां स्वामिकस्य भार्या धारयतु" इति ।

(हिन्दी-अनुवाद)

यहाँ जो पत्नी वधक (-समा) कही गई है और जो चोरी (-समा) तथा आर्या (-समा) कही गई हैं, वे (तीनों प्रकार की पत्नियाँ) दुःशीलता, कठोरता एवं पति के प्रति अनादर-भाव के कारण मरकर नरक जाती हैं, और यहाँ जो माता (-समा), भगिनी (-समा), सखी (-समा) तथा दासी (-समा) पत्नी कही गई हैं वे शील में स्थित एवं दीर्घ काल तक (बुराइयों से) सुरक्षित रहने के कारण मरकर स्वर्ग जाती हैं । सुजाते ! पुरुष की ये सात (प्रकार की) पत्नियाँ होती हैं । उनमें से तुम कौन-सी हो ? भन्ते ! आज से लेकर भगवान् मुझे पति की दासीसमा स्त्री धारण (स्वीकार) करें ।

---

५. मङ्गलमङ्गलानि[1]

बहू देवा मनुस्सा च, मङ्गलानि अचिन्तयुं।
आकङ्खमाना सोत्थानं, ब्रूहि मङ्गलमुत्तमं ॥१॥

असेवना च बालानं, पण्डितानं च सेवना।
पूजा च पूजनीयानं, एतं मङ्गलमुत्तमं ॥२॥

पतिरूपदेसवासो च, पुब्बे च कतपुञ्ञता।
अत्तसम्मापणिधि च, एतं मङ्गलमुत्तमं ॥३॥

(संस्कृतच्छाया)

बहवः देवाः मनुष्याश्च मङ्गलानि अचिचिन्तन्।
आकांक्षन्तः स्वस्त्ययनं ब्रूहि मङ्गलमुत्तमम् ॥ १ ॥

असेवना च बालानां पण्डितानां च सेवना।
पूजा च पूजनीयानां एतन् मङ्गलमुत्तमम् ॥ २ ॥

प्रतिरूपदेशवासश्च पूर्वस्मिन् च कृतपुण्यता।
आत्मसम्यक्प्रणिधिश्च एतन् मङ्गलमुत्तमम् ॥ ३ ॥

(हिन्दी-अनुवाद)

कल्याण को चाहने वाले बहुत-से देवताओं और मनुष्यों ने मङ्गलों को विचारा है। (आप) उत्तम मङ्गल को कहें ॥१॥

मूर्खों का असेवन (संगति न करना) पण्डितों का सेवन (संगति करना) तथा पूज्य व्यक्तियों की पूजा—यह उत्तम मङ्गल है ॥२॥

अनुकूल देश में वास, पूर्व (जन्म) में की हुई भलाई और स्वयं का सच्चा संकल्प—यह उत्तम मङ्गल है ॥३॥

---

१. प्रस्तुत गाथायें खुद्दकपाठ के मङ्गलसुत्त (खुद्दकनिकाय खण्ड १, पृ० ५-६) से ली गई हैं। प्राणी नाना प्रकार के मङ्गल कार्य करते हैं किन्तु सर्वोत्तम मङ्गल क्या है—इसे बताते हुये भगवान् बुद्ध ने ३८ मङ्गलधर्मों का उपदेश दिया है। बौद्ध देशों में इन गाथाओं के पाठ का बड़ा महत्त्व माना जाता है।

बाहुसच्चं च सिप्पं च, विनयो च सुसिक्खितो।
सुभासिता च या वाचा, एतं मङ्गलमुत्तमं ।।४।।

मातापितुउपट्ठानं, पुत्तदारस्स सङ्गहो।
अनाकुला च कम्मन्ता, एतं मङ्गलमुत्तमं ।।५।।

दानं च धम्मचरिया च, ञातकानं च सङ्गहो।
अनवज्जानि कम्मानि, एतं मङ्गलमुत्तमं ।।६।।

आरती विरती पापा, मज्जपाना च संयमो।
अप्पमादो च धम्मेसु, एतं मङ्गलमुत्तमं ।।७।।

गारवो च निवातो च, सन्तुट्ठि च कतञ्जुता।
कालेन धम्मस्सवनं एतं मङ्गलमुत्तमं ।।८।।

(संस्कृतच्छाया)

बाहुश्रुत्यञ्च शिल्पञ्च विनयश्च सुशिक्षितः।
सुभाषिता च या वाचा एतन् मङ्गलमुत्तमम् ।। ४ ।।
मातापित्रोरुपस्थानं पुत्रदाराणां संग्रहः।
अनाकुलाश्च कर्मान्ता एतन् मङ्गलमुत्तमम् ।। ५ ।।
दानञ्च धर्मचर्या च ज्ञातृकानाञ्च संग्रहः।
अनवद्यानि कर्माणि एतन् मङ्गलमुत्तमम् ।। ६ ।।
आरतिः विरतिः पापाद् मद्यपानाच्च संयमः।
अप्रमादश्च धर्मेषु एतन् मङ्गलमुत्तमम् ।। ७ ।।
गौरवञ्च निवातश्च सन्तुष्टिश्च कृतज्ञता।
कालेन धर्मश्रवणं एतन् मङ्गलमुत्तमम् ।।८।।

(हिन्दी-अनुवाद)

अच्छी तरह से सीखा गया बहुश्रुत का भाव, शिल्प तथा विनय (अनुशासन) और अच्छी तरह से कही गई जो वाणी—यह उत्तम मङ्गल है ।।४।।

माता-पिता की सेवा, पुत्र एवं पत्नी का संरक्षण, तथा कर्म में अनुद्वेग—यह उत्तम मङ्गल है ।।५।।

दान, धर्म का आचरण, सम्बन्धियों का संरक्षण तथा निर्दोष काम—यह उत्तम मङ्गल है ।।६।।

पाप से विराम तथा उदासीनता, मद्यपान से संयम, धर्मों में सावधानी—यह उत्तम मङ्गल है ।।७।।

गौरव, नम्रता, सन्तुष्टि, कृतज्ञता तथा उचित समय पर धर्म-श्रवण—यह उत्तम मङ्गल है ।।८।।

खन्ती च सोवचस्सता, समणानं च दस्सनं।
कालेन धम्मसाकच्छा, एतं मङ्गलमुत्तमं ॥९॥

तपो च ब्रह्मचरियं च, अरियसच्चान दस्सनं।
निब्बानसच्छिकिरिया च, एतं मङ्गलमुत्तमं ॥१०॥

फुट्ठस्स लोकधम्मेहि, चित्तं यस्स न कम्पति।
असोकं विरजं खेमं, एतं मङ्गलमुत्तमं ॥११॥

एतादिसानि कत्वान, सब्बत्थमपराजिता।
सब्बत्थ सोत्थिं गच्छन्ति, तं तेसं मङ्गलमुत्तमं ति ॥१२॥

(संस्कृतच्छाया)

क्षान्तिश्च सुवचस्ता च श्रमणानाञ्च दर्शनम् ।
कालेन धर्मसंकथ्या एतन् मङ्गलमुत्तमम् ॥९॥
तपश्च ब्रह्मचर्यञ्च आर्यसत्यानां दर्शनम् ।
निर्वाणसाक्षात्क्रिया च एतन् मङ्गलमुत्तमम् ॥१॥
स्पृष्टस्य लोकधर्मैः चित्तं यस्य न कम्पते ।
अशोकं विरजम् क्षेमम् एतन् मङ्गलमुत्तमम् ॥११॥
एतादृशानि कृत्वा सर्वत्रापराजिताः ।
सर्वत्र स्वस्ति गच्छन्ति तत्तेषां मङ्गलमुत्तमम् ॥१२॥

(हिन्दी-अनुवाद)

क्षमा, सज्जनता, श्रमणों का दर्शन तथा उचित समय पर धर्म-चर्चा—यह उत्तम मङ्गल है ॥९॥

तप, ब्रह्मचर्य, आर्य-सत्यों का दर्शन तथा निर्वाण का साक्षात्कार—यह उत्तम मङ्गल है ॥१०॥

लोक-धर्मों से छुआ हुआ जिसका चित्त विचलित नहीं होता है (अपितु) शोक रहित, निर्मल तथा कल्याणकारी (चित्त रहना)—यह उत्तम मङ्गल है ॥११॥

इस प्रकार (के कर्मों) को करके सर्वत्र अपराजित (मनुष्य) सर्वत्र कल्याण को प्राप्त करते हैं। वह उनका उत्तम मङ्गल है ॥१२॥

---

६. मूर्ख-परिचयः[1]

दीघा जागरतो रत्ति, दीघं सन्तस्स योजनं ।
दीघो बालान संसारो, सद्धम्मं अविजानतं ॥१॥

चरञ्चे नाधिगच्छेय्य, सेय्यं सदिसमत्तनो ।
एकचरियं दळ्हं कयिरा, नत्थि बाले सहायता ॥२॥

पुत्ता मत्थि धनमत्थि, इति बालो विहञ्ञति ।
अत्ता हि अत्तनो नत्थि, कुतो पुत्ता कुतो धनं ॥३॥

(संस्कृतच्छाया)

दीर्घा जाग्रतो रात्रिः दीर्घं श्रान्तस्य योजनम् ।
दीर्घो बालानां संसारः सद्धर्ममविजानताम् ॥ १ ॥

चरंश्चेन्नाधिगच्छेत् श्रेयः सदृशमात्मनः ।
एकचर्यं दृढ़ं कुर्यात् नास्ति बाले सहायता ॥ २ ॥

पुत्रा मेऽस्ति (सन्ति) धनं मेऽस्ति इति बालो विहन्यते ।
आत्मा हि आत्मनो नास्ति कुतः पुत्राः कुतो धनम् ॥ ३ ॥

(हिन्दी-अनुवाद)

जागने वाले की रात बड़ी होती है, थके हुए का योजन बड़ा होता है (तथा) सच्चे धर्म को न जानने वाले मूर्खों का संसार बड़ा होता है ॥ १ ॥

चलते हुए यदि अपने अनुरूप अच्छा (साथी) न मिले तो दृढ़ता पूर्वक अकेला ही चले (कारण) मूर्ख में सहायता करने की योग्यता नहीं होती है ॥ २ ॥

मेरा पुत्र है, मेरा धन है—इस प्रकार (के विचार) से मूर्ख मारा जाता है । (जब) आत्मा ही अपनी नहीं है (तो) पुत्र कहाँ से (और) धन कहाँ से (अपना) हो सकता है । ॥ ३ ॥

---

१. प्रस्तुत गाथायें धम्मपद के बालवग्गो (खुद्दकनिकाय खण्ड १, पृ० २३-२४) से उद्धृत की गई हैं । धम्मपद सबसे अधिक लोकप्रिय ग्रन्थ है क्योंकि इसमें निहित उपदेश भारतीय आचार-विचार की सर्वश्रेष्ठ निधि है । इस पाठ में मूर्ख व्यक्ति के जो लक्षण बतलाये गये हैं, उनसे पूर्वोक्त कथन की पुष्टि की जा सकती है ।

यो बालो मञ्ञति बाल्यं, पण्डितो वा पि तेन सो।
बालो च पण्डितमानी, स वे बालो ति वुच्चति ॥४॥

यावजीवं पि चे बालो, पण्डितं पयिरुपासति।
न सो धम्मं विजानाति, दब्बी सूपरसं यथा ॥५॥

मुहुत्तमपि चे विञ्ञू, पण्डितं पयिरुपासति।
खिप्पं धम्मं विजानाति, जिव्हा सूपरसं यथा ॥६॥

मधुवा मञ्ञति बालो, याव पापं न पच्चति।
यदा च पच्चति पापं, बालो दुक्खं निगच्छति ॥७॥

(संस्कृतच्छाया)

यो बालो मन्यते बाल्यं पण्डितो वापि तेन सः।
बालश्च पण्डितमानी स वै बालः इत्युच्यते ॥ ४ ॥
यावज्जीवमपि चेद् बालः पण्डितं पर्युपास्ते।
न स धर्मं विजानाति दर्वी सूपरसं यथा ॥ ५ ॥
मुहूर्तमपि चेद् विज्ञः पण्डितं पर्युपास्ते।
क्षिप्रं धर्मं विजानाति जिह्वा सूपरसं यथा ॥ ६ ॥
मधु वा मन्यते बालः यावत्पापं न पच्यते।
यदा च पच्यते पापं बालो दुःखं निगच्छति ॥ ७ ॥

(हिन्दी-अनुवाद)

जो मूर्ख (अपनी) मूर्खता को समझ लेता है, वह उतने मात्र से ही पण्डित है; (किन्तु जो) मूर्ख अपने को पण्डित मानता है, वह ही मूर्ख है—ऐसा कहा जाता है ॥ ४ ॥

यदि मूर्ख जीवन पर्यन्त भी पण्डित की उपासना करता है (तो भी) वह धर्म को नहीं जानता है। जैसे कलछी दाल के रस को ॥ ५ ॥

यदि ज्ञानी पुरुष थोड़ी देर भी पण्डित की उपासना करता है, (तो वह शीघ्र धर्म को जान लेता है जैसे जीभ दाल के स्वाद को ॥ ६ ॥

जब तक पाप पकता नहीं है (अर्थात् फल नहीं देता है) तब तक मूर्ख (पाप को) मधु मानता है, (किन्तु) पाप जब फल देता है तो मूर्ख दुःख में पड़ जाता है ॥ ७ ॥

मासे मासे कुसग्गेन, बालो भुञ्जेय्य भोजनं।
न सो सङ्खतधम्मानं कलं अग्घति सोळसिं॥८॥

न हि पापं कतं कम्मं, सज्जु खीरं व मुच्चति।
डहन्तं बालमन्वेति, भस्मच्छन्नो व पावको॥९॥

यावदेव अनत्थाय, ञत्तं बालस्स जायति।
हन्ति बालस्स सुक्कंसं, मुद्धमस्स विपातयं॥१०॥

(संस्कृतच्छाया)

मासे मासे कुशाग्रेण बालो भुञ्जीत भोजनम्।
न स संख्यातधर्माणां कलामर्हति षोडशीम्॥ ८॥

न हि पापं कृतं कर्म सद्यः क्षीरमिव मूर्च्छति।
दहन्तं बालं अन्वेति भस्मच्छन्न इव पावकः॥ ९॥

यावदेव अनर्थाय ज्ञत्वं बालस्य जायते।
हन्ति बालस्य शुक्लांशं मूर्धानमस्य विपातयत्॥१०॥

(हिन्दी-अनुवाद)

यदि मूर्ख महीने-महीने भर कुश की नोंक से भोजन करे तो भी वह धर्म को जानने वालों की सोलहवीं कला (अंश) को भी प्राप्त नहीं होता है॥ ८॥

किया हुआ पाप कर्म दूध की तरह शीघ्र ही ऊपर नहीं आता है (अपितु) मूर्ख को जलाते हुए पीछा करता है, जैसे भस्म से ढकी हुई अग्नि॥ ९॥

मूर्ख का थोड़ा-बहुत (जो कुछ भी) ज्ञान (है वह) अनर्थ के लिये होता है। वह (ज्ञान) इस मूर्ख के शिर को गिराता हुआ अच्छाई को नष्ट कर देता है॥ १०॥

७. अकिञ्चनस्य वै शान्तिः[१]

एकं समयं भगवा सावत्थियं विहरति जेतवने अनाथपिण्डिकस्स आरामे। तेन खो पन समयेन अञ्ञतरस्स परिब्बाजकस्स दहरमाणविका प्रजापति होति गब्भिनी उपविजञ्ञा। अथ खो सा परिब्बाजिका तं परिब्बाजकं एतदवोच—'गच्छ त्वं, ब्राह्मण, तेलं आहर, यं मे विजाताय भविस्सती" ति।

तेन खो पन समयेन रञ्ञो पसेनदिस्स कोसलस्स कोट्ठागारे समणस्स वा ब्राह्मणस्स वा सप्पिस्स वा तेलस्स वा यावदत्थं पातुं दीयति, नो नीहरितुं।

(संस्कृतच्छाया)

एकस्मिन् समये भगवान् श्रावस्त्यां विहरति जैत्रवने अनाथपिण्डिकस्याऽरामे। तस्मिन् खलु पुनः समये अन्यतरस्य परिव्राजकस्य दहरमाणविका प्रजावती गर्भिणी उपविजन्या। अथ खलु सा परिव्राजिका तं परिव्राजकम् एतदवोचत्—'गच्छ त्वं ब्राह्मण! तैलमाहर यन्मे विजाताया भविष्यति' इति।

तस्मिन् खलु पुनः समये राज्ञः प्रसेनजितः कोसलस्य कोष्ठागारे श्रमणाय वा ब्राह्मणाय वा सर्पिषो वा तैलस्य वा यावदर्थं पातुं दीयते नो निर्हर्त्तुम्।

(हिन्दी-अनुवाद)

एक समय भगवान् श्रावस्ती में अनाथपिण्डिक के जेतवन (नामक) बगीचे में विहार कर रहे थे। उस समय किसी परिव्राजक की तरुण गर्भिणी स्त्री प्रसव करने वाली थी। तब उस परिव्राजिका ने उस परिव्राजक से यह कहा—ब्राह्मण! तुम जाओ, तैल ले आओ, जो मेरी सन्तान के लिए होगा।

उस समय कोसलराज प्रसेनजित् के भण्डार में श्रमण या ब्राह्मण के लिये घी या तैल जी-भर पीने के लिये दिया जाता था, ले जाने के लिए नहीं। तब उस परि-

---

१. प्रस्तुत गद्यांश उदान के गब्भिनीसुत्त (खुद्दकनिकाय खण्ड १, पृ० ७७-७८) से लिया गया है। उदान शब्द का अर्थ होता है—सन्तों के मुख से अनायास निकला प्रीति-वाक्य। इस पाठ में भगवान् बुद्ध का यह प्रीतिवाक्य प्रमुख है कि जिसके पास कुछ नहीं है वही सच्चा सुखी है।

अथ खो तस्स परिब्बाजकस्स एतदहोसि—"रञ्ञो खो पन पसेनदिस्स कोसलस्स कोट्ठागारे समणस्स वा ब्राह्मणस्स वा सप्पिस्स वा तेलस्स वा यावदत्थं पातुं दीयति, नो नीहरितुं। यन्नूनाहं रञ्ञो पसेनदिस्स कोसलस्स कोट्ठागारं गन्त्वा तेलस्स यावदत्थं पिवित्वा घरं आगन्त्वा उच्छद्दित्वान ददेय्यं, यं इमिस्सा विजाताय भविस्सती" ति।

अथ खो सो परिब्बाजको रञ्ञो पसेनदिस्स कोसलस्स कोट्ठागारं गन्त्वा तेलस्स यावदत्थं पिवित्वा घरं आगन्त्वा नेव सक्कोति उद्धं कातुं, न पन अधो। सो दुक्खाहि तिब्बाहि खराहि कटुकाहि वेदनाहि फुट्ठो आवट्टति परिवट्टति।

अथ खो भगवा पुब्बण्हसमयं निवासेत्वा पत्ताचीवरमादाय सावत्थिं

(संस्कृतच्छाया)

अथ खलु तस्य परिव्राजकस्य एतदभूत्—"राज्ञः खलु पुनः प्रसेनजितः कोसलस्य कोष्ठागारे श्रमणाय वा ब्राह्मणाय वा सर्पिषो वा तैलस्य वा यावदर्थं पातुं दीयते नो निर्हर्त्तुम्। यन्नूनमहं राज्ञः प्रसेनजितः कोसलस्य कोष्ठागारं गत्वा तैलस्य यावदर्थं पीत्वा गृहम् आगत्य उद्गीर्य दद्यां यदस्याः विजातायाः भविष्यति" इति।

अथ खलु सः परिव्राजकः राज्ञः प्रसेनजितः कोसलस्य कोष्ठागारं गत्वा तैलस्य यावदर्थं पीत्वा गृहं आगत्य नैव शक्नोति ऊर्ध्वं कर्तुं, न पुनः अधः। सः दुःखाभिः तीव्राभिः कटुकाभिः वेदनाभिः स्पृष्टः आवर्तते परिवर्तते।

अथ खलु भगवान् पूर्वाह्णसमये निवस्य पात्रचीवरमादाय श्रावस्तीं पिण्डाय

(हिन्दी-अनुवाद)

व्राजक के लिए (मन में) ऐसा हुआ—"कोसलराज प्रसेनजित् के भण्डार में श्रमण या ब्राह्मण के लिए घी या तैल जी-भर पीने के लिए दिया जाता है, ले जाने के लिए नहीं। तो निश्चय ही मैं कोसलराज प्रसेनजित् के भण्डार में जाकर जी-भर तैल पीकर घर आऊँ और उगल कर इसे दे दूं जो इसकी सन्तान के लिए होगा। तब वह परिव्राजक कोसलराज प्रसेनजित् के भण्डार में जाकर जी-भर तैल को पीकर घर आकर न ऊपर ही कर सका और न नीचे ही (अर्थात् न उगल ही सका और न निगल सका)। वह दुःख-पूर्ण तीव्र, कठोर, कटु वेदनाओं से युक्त होकर छटपटाने लगा।

तब भगवान् पूर्वाह्ण समय (वस्त्र) पहिनकर, पात्र-चीवर ले श्राबस्तो में भिक्षा के

पिण्डाय पाविसि । अद्दसा खो भगवा तं परिब्बाजकं दुक्खाहि तिब्बाहि खराहि कटुकाहि वेदनाहि फुट्ठं आवट्टमानं परिवट्टमानं ।

अथ खो भगवा एतमत्थं विदित्वा तायं वेलायं इमं उदानं उदानेसि—
"सुखिनो वत ये अकिञ्चना, वेदगुनो हि जना अकिञ्चना ।
सकिञ्चनं पस्स विहञ्ञमानं जनो जनस्मि पटिबन्धचितो" ति ॥

(संस्कृतच्छाया)

प्राविक्षत् । अद्राक्षीत् खलु भगवान् तं परिव्राजकं दुःखाभिः तीव्राभिः खराभिः कटुकाभिः वेदनाभिः स्पृष्टम् आवर्तमानं परिवर्तमानम् ।

अथ खलु भगवान् एतदर्थं विदित्वा तस्यां वेलायाम् इदमुदानं उदानीत्—
"सुखिनो वत येऽकिञ्चना वेदज्ञा हि जना अकिञ्चनाः ।
सकिञ्चनं पश्य विहन्यमानं जनो जने प्रतिबद्धचित्तः" इति ॥

(हिन्दी-अनुवाद)

लिए प्रविष्ट हुये । उन भगवान् ने दुःखपूर्ण तीव्र, कठोर, कटु वेदनाओं से युक्त होकर छटपटाते हुए उस परिव्राजक को देखा । तब भगवान् ने उस बात को जानकर उस समय इस उदान को कहा—जो अकिञ्चन है, वे ही निश्चय से सुखी हैं, ज्ञानी लोग अकिञ्चन (अपना कुछ नहीं रखने वाले) होते हैं, छटपटाते हुए सकिञ्चन (जिसके पास कुछ है ऐसे) को देखो । एक मनुष्य दूसरे मनुष्य में आसक्त चित्त वाला है ।

---

८ शील-वैभवम्[1]

"तीणिमानि, भिक्खवे, सुखानि पत्थयमानो सीलं रक्खेय्य पण्डितो। कतमानि तीणि ? पसंसा मे आगच्छतू ति सीलं रक्खेय्य पण्डितो, भोगा मे उप्पज्जन्तू ति सीलं रक्खेय्य पण्डितो, कायस्स भेदा परं मरणा सुगतिं सग्गं लोकं उपपज्जिस्सामी ति सीलं रक्खेय्य पण्डितो। इमानि खो, भिक्खवे, तीणि सुखानि पत्थयमानो सीलं रक्खेय्य पण्डितो" ति। एतमत्थं भगवा अवोच। तत्थेतं इति वुच्चति—

(संस्कृतच्छाया)

त्रीणीमानि, भिक्षवः, सुखानि प्रार्थयमानः शीलं रक्षेत् पण्डितः। कतमानि त्रीणि ? प्रशंसा मे आगच्छतु इति शीलं रक्षेत् पण्डितः, भोगाः मे उत्पद्येरन् इति शीलं रक्षेत् पण्डितः, कायस्य भेदात् परं मरणात् सुगतिं स्वर्गं लोकं उपपत्स्ये इति शीलं रक्षेत् पण्डितः। इमानि खलु, भिक्षवः, त्रीणि सुखानि प्रार्थयमानः शीलं रक्षेत् पण्डितः। एतमर्थं भगवान् अवोचत्। तत्रैतदिति उच्यते—

(हिन्दी-अनुवाद)

हे भिक्षुओं ! पण्डित इन तीन सुखों को चाहता हुआ शील की रक्षा करे। कौन से तीन ? मेरी प्रशंसा हो—इस प्रकार (चाहता हुआ) पण्डित शील की रक्षा करे, मेरे भोग उत्पन्न हो—इस प्रकार (चाहता हुआ) पण्डित शील की रक्षा करे, (तथा) मरने के बाद उत्तम गति स्वर्ग लोक में उत्पन्न होऊँगा—इस प्रकार (चाहता हुआ) पण्डित शील की रक्षा करे। हे भिक्षुओ ! इन तीन सुखों को चाहता हुआ पण्डित शील की रक्षा करे। इस अर्थ (अभिप्राय) को भगवान् ने कहा है। इसे इस प्रकार कहा जा रहा है—

---

१. प्रस्तुत गद्यपद्यांश इतिवुत्तक के सुखपत्थनासुत्त (खुद्दक निकाय खण्ड १, पृ० २२८ से लिया गया हैं। इसमें प्रशंसा, भोग एवं मरणोपरान्त स्वर्गप्राप्ति हेतु शील (अच्छे आचरण) की रक्षा का उपदेश दिया गया है।

सीलं रक्खेय्य मेधावी, पत्थयानो तयो सुखे।
पसंसं वित्तलाभं च, पेच्च सग्गे पमोदनं ॥१॥

अकरोन्तो पि चे पापं, करोन्तमुपसेवति।
सङ्कियो होति पापस्मि, अवण्णो चस्स रूहति ॥२॥

यादिसं कुरुते मित्तं, यादिसं चूपसेवति।
स वे तादिसको होति, सहवासो हि तादिसो ॥३॥

पूतिमच्छं कुसग्गेन यो नरो उपनय्हति।
कुसा पि पूतिं वायन्ति, एवं बालूपसेवना ॥४॥

(संस्कृतच्छाया)

"शीलं रक्षेत् मेधावी, प्रार्थयमानः त्रीणि सुखानि।
प्रशंसा वित्तलाभञ्च, प्रेत्य स्वर्गे प्रमोदनम् ॥ १ ॥

अकुर्वन्नपि चेत् पापं, कुर्वन्तमुपसेवते।
शङ्कितो भवति पापे, अवर्णश्च अस्य रोहति ॥ २ ॥

यादृशं कुरुते मित्रं, यादृशं चोपसेवते।
स वै तादृशको भवति, सहवासो हि तादृशः ॥ ३ ॥

पूतिमत्स्यं कुशाग्रेण, यो नरः उपनह्यति।
कुशा अपि पूतिः वान्ति, एवं बालोपसेवना ॥ ४ ॥

(हिन्दी-अनुवाद)

बुद्धिमान् व्यक्ति प्रशंसा, धन-लाभ तथा मरकर स्वर्ग में आनन्द (—इन) तीन सुखों को चाहता हुआ शील की रक्षा करे ॥१॥

यदि पाप को न करता हुआ भी (मनुष्य) (पाप) करने वाले मनुष्य का अनुसरण करता है तो वह पाप में शङ्कित होता है तथा उसका अपयश होता है ॥२॥

(मनुष्य) जिस प्रकार के मित्र को करता है तथा जिस प्रकार (के व्यक्ति) का अनुसरण करता है, वह निश्चय से वैसा ही होता है (क्योंकि उसका) वैसा सहवास है ॥३॥

जो मनुष्य कुश के अग्र भाग से दुर्गन्ध युक्त मछली लेता है तो (उस व्यक्ति के) कुश भी दुर्गन्ध छोड़ने लगाते हैं इसी प्रकार मूर्खों की संगति होती है ॥४॥

तगरं च पलासेन, यो नरो उपनय्हति ।
पत्ता पि सुरभि वायन्ति, एवं धीरूपसेवना ॥ ५ ॥

तस्मा पत्तपुटस्सेव, ञत्वा सम्पाकमत्तनो ।
असन्ते नुपसेवेय्य, सन्ते सेवेय्य पण्डितो ।
असन्तो निरयं नेन्ति, सन्तो पापेन्ति सुग्गतिं" ति ॥ ६ ॥

(संस्कृतच्छाया)

"तगरं च पलाशेन यो नरः उपनह्यति ।
पत्राणि अपि सुरभीणि वान्ति एवं धीरोपसेवना ॥ ५ ॥
तस्मात् पत्रपुटस्य इव ज्ञात्वा सम्पाकमात्मनः ।
असतो नोपसेवेत सतः सेवेत पण्डितः ।
असन्तो नरकं नयन्ति, सन्तः प्रापयन्ति सुगतिम्" इति ॥ ६ ॥

(हिन्दी-अनुवाद)

जो मनुष्य तगर (सुगन्धित काष्ठविशेष) को पत्ते से पकड़ता है, (वे) पत्ते भी सुगन्ध को छोड़ने लगते हैं । इसी प्रकार धीर व्यक्तियों की संगति होती है ॥ ५ ॥

इसलिए पत्तों के दोने की तरह अपने सम्पाक (परिपाक) को जानकर पण्डित खोटे व्यक्तियों की संगति न करे, भले पुरुषों की संगति करे। खोटे व्यक्ति नरक में ले जाते हैं तथा भले व्यक्ति अच्छी गति प्राप्त कराते हैं ॥ ६ ॥

६. खड्गविषाणायताम्[1]

सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं, अविहेठयं अञ्ञतरं पि तेसं।
न पुत्तमिच्छेय्य कुतो सहायं, एको चरे खग्गविसाणकप्पो ॥१॥
संसग्गजातस्स भवन्ति स्नेहा, स्नेहन्वयं दुक्खमिदं पहोति।
आदीनवं स्नेहजं पेक्खमानो, एको चरे खग्गविसाणकप्पो ॥२॥
मित्ते सुहज्जे अनुकम्पमानो, हापेति अत्थं पटिबद्धचित्तो।
एतं भयं सन्थवे पेक्खमानो, एको चरे खग्गविसाणकप्पो ॥३॥

(संस्कृतच्छाया)

सर्वेषु भूतेषु निधाय दण्डम्, अविहेठन् अन्यतरमपि तेषाम्।
न पुत्रमिच्छेत् कुतः सहायम्, एकश्चरेत् खड्गविषाणकल्पः ॥ १ ॥
संसर्गजातस्य भवन्ति स्नेहाः, स्नेहान्वयं दुःखमिदं प्रभवति।
आदीनवं स्नेहजं प्रेक्षमाणः, एकश्चरेत् खड्गविषाणकल्पः ॥ २ ॥
मित्रे सुहृदि अनुकम्पमानः, हापयति अर्थं प्रतिबद्धचित्तः।
एतद् भयं संस्तवे प्रेक्षमाणः, एकश्चरेत् खड्गविषाणकल्पः ॥ ३ ॥

(हिन्दी अनुवाद)

सभी प्राणियों में दण्ड को त्यागकर उनमें से किसी को न सताये। पुत्र की इच्छा न करे साथी की बात तो दूर। गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरे ॥ १ ॥

संसर्ग में रहने वाले को स्नेह होता है, स्नेह के सम्बन्ध से यह दुःख होता है। स्नेह से होने वाले अनर्थ को देखता हुआ गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरे ॥ २ ॥

मित्रों और सुहृदों में अनुकम्पा को करता हुआ आसक्त चित्त वाला (अपने) अर्थ को खो देता है। मेल-जोल में इस भय को देखता हुआ गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरे ॥ ३ ॥

---

१. ये गाथाएं सुत्तनिपात के खग्गविसाणसुत्त (खुद्दकनिकाय खण्ड १, पृ० २७४-२८०) से उद्धृत की गई हैं। धम्मपद की भाँति सुत्तनिपात भी पालि साहित्य का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसकी भाषा में यत्र-तत्र वैदिक भाषा के प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं तथा इसमें देवयजनवाद का पूरा चित्र मिलता है। अतः भाषा एवं विचार—दोनों ही दृष्टियों से सुत्तनिपात त्रिपिटक का एक महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है। प्रस्तुत गाथाओं में एकान्तवास का सुन्दर उपदेश दिया गया है।

मिगो अरञ्ञम्हि यथा अबद्धो, येनिच्छकं गच्छति गोचराय ।
विञ्ञू नरो सेरितं पेक्खमानो, एको चरे खग्गविसाणकप्पो ॥४॥

खिड्डा रती होति सहायमज्झे, पुत्तेसु च विपुलं होति पेमं ।
पियविप्पयोगं विजिगुच्छमानो, एको चरे खग्गविसाणकप्पो ॥५॥

दिस्वा सुवण्णस्स पभस्सरानि, कम्मारपुत्तेन सुनिट्ठितानि ।
सङ्घट्टमानानि दुवे भुजस्मि, एको चरे खग्गविसाणकप्पो ॥६॥

कामा हि चित्रा मधुरा मनोरमा, विरूपरूपेन मथेन्ति चित्तं ।
आदीनवं कामगुणेसु दिस्वा, एको चरे खग्गविसाणकप्पो ॥७॥

(संस्कृतच्छाया)

मृगोऽरण्ये यथा अबद्धः, यदृच्छकं गच्छति गोचराय ।
विज्ञो नरः स्वैरितां प्रेक्षमाणः, एकश्चरेत् खड्गविषाणकल्पः ॥ ४ ॥

क्रीडा रतिर्भवति सहायमध्ये, पुत्रेषु च विपुलं भवति प्रेम ।
प्रियविप्रयोगं विजुगुप्समानः, एकश्चरेत् खड्गविषाणकल्पः ॥ ५ ॥

दृष्ट्वा सुवर्णस्य प्रभास्वराणि, कर्मारपुत्रेण सुनिष्ठितानि ।
संघट्टमानानि द्वयोर्भुजयोः, एकश्चरेत् खड्गविषाणकल्पः ॥ ६ ॥

कामा हि चित्रा मधुरा मनोरमा, विरूपरूपेण मथ्नन्ति चित्तम् ।
आदीनवं कामगुणेषु दृष्ट्वा, एकश्चरेत् खड्गविषाणकल्पः ॥ ७ ॥

(हिन्दी-अनुवाद)

जिस प्रकार स्वच्छन्द मृग वन में चाहे जिधर चरने को जाता है, (उसी प्रकार) विद्वान् मनुष्य स्वच्छन्दता को चाहता हुआ गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरे ॥४॥

मित्रों के बीच क्रीड़ा और रति होती है, और पुत्रों में विपुल प्रेम होता है । प्रिय के वियोग से घृणा करता हुआ गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरे ॥ ५ ॥

सुवर्णकार के द्वारा अच्छी तरह से बनाई गई सुनहरी चमकीली दो (कंकणियों) को हाथ में टकराते देख गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरे ॥ ६ ॥

काम चमकीले, मधुर और मनोरम हैं, नाना रूप से मन को विचलित करते हैं । कामगुणों में दुष्परिणाम को देखकर गैंड़े के सींग की तरह अकेला बिचरे ॥ ७ ॥

पापं सहायं परिवज्जयेथ, अनत्थदस्सिं विसमे निविट्ठं ।
सयं न सेवे पसुतं पमत्तं, एको चरे खग्गविसाणकप्पो ।।८।।

रसेसु गेधं अकरं अलोलो, अनञ्ञपोसी सपदानचारी ।
कुले कुले अप्पटिबद्धचित्तो, एको चरे खग्गविसाणकप्पो ।।९।।

मेत्तं उपेक्खं करुणं विमुत्तिं, आसेवमानो मुदितं च काले ।
सब्बेन लोकेन अविरुज्झमानो, एको चरे खग्गविसाणकप्पो ।।१०।।

(संस्कृतच्छाया)

पापं सहायं परिवर्जयेत्, अनर्थदर्शिनं विषमे निविष्टम् ।
स्वयं न सेवेत प्रसितं प्रमत्तम्, एकश्चरेत् खड्गविषाणकल्पः ।। ८ ।।

रसेषु गृधामकुर्वन् अलोलः, अनन्यपोषी स्वपदानां चारी ।
कुले कुले अप्रतिबद्धचित्तः, एकश्चरेत् खड्गविषाणकल्पः ।। ९ ।।

मैत्रीमुपेक्षां करुणां विमुक्तिम्, आऽसेवमानो मुदितां च काले ।
सर्वेण लोकेनाऽविरुध्यमानः, एकश्चरेत् खड्गविषाणकल्पः ।। १० ।।

(हिन्दी-अनुवाद)

अनर्थ देखने वाले (तथा) विषम-आचार में लगे हुए पाप-मित्र का परित्याग करे । स्वयं आलसी और प्रमत्तों का साथ न करे । गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरे ।। ८ ।।

रसों में तृष्णा न कर, लोलुपता से रहित दूसरों को न पोसने वाला, घर-घर में भिक्षाटन करने वाला (कुलों में) अनासक्त हो गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरे ।। ९ ।।

मैत्री, उपेक्षा, करुणा, विमुक्ति और मुदिता का समय पर सेवन करता हुआ सारे संसार से विरोध-भाव न रखता हुआ गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरे ।। १० ।।

---

१०. अर्थस्य अनर्थता[1]

पस्सामि लोके सधने मनुस्से, लद्धान वित्तं न ददन्ति मोहा ।
लुद्धा धनं सन्निचयं करोन्ति, भिय्यो व कामे अभिपत्थयन्ति ।।१।।
राजा पसय्हप्पठविं विजेत्वा, ससागरन्तं महिमावसन्तो ।
ओरं समुद्दस्स अतित्तरूपो, पारं समुद्दस्स पि पत्थयेथ ।।२।।
राजा च अञ्ञे च बहू मनुस्सा, अवीततण्हा मरणं उपेन्ति ।
ऊना व हुत्वान जहन्ति देहं, कामेहि लोकम्हि न हत्थि तित्ति ।।३।।

(संस्कृतच्छाया)

पश्यामि लोके सधनान् मनुष्यान्, लब्ध्वा वित्तं न ददति मोहात् ।
लुब्धा धनस्य सन्निचयं कुर्वन्ति, भूयः एव कामान् अभिप्रार्थयन्ते ।। १ ।।
राजा प्रसह्य पृथिवीं विजित्य ससागरान्तां महीमावसन् ।
अवरं समुद्रस्य अतृप्तरूपः, पारं समुद्रस्याऽपि प्रार्थयेत् ।। २ ।।
राजा चाऽन्ये च बहवो मनुष्याः, अवीततृष्णा मरणमुपयन्ति ।
ऊना एव भूत्वा जहति देहं, कामैः लोके न ह्यस्ति तृप्तिः ।। ३ ।।

(हिन्दी-अनुवाद)

(मैं) संसार में धनी मनुष्यों को देखता हूँ (जो) धन पाकर मोह के कारण दान नहीं करते हैं । लोभी धन का संग्रह करते हैं (तथा) विषयों को और अधिक ही चाहते हैं ।।१।।

राजा बलपूर्वक पृथ्वी को जीतकर सागरपर्यन्त पृथ्वी पर रहता हुआ समुद्र के इस पार से अतृप्त हो समुद्र के उस पार की भी इच्छा करता है ।।२।।

राजा तथा दूसरे बहुत-से मनुष्य तृष्णा को विना त्यागे ही मरण को प्राप्त करते हैं । (वे) निर्धन होकर ही शरीर को छोड़ते हैं । संसार में विषयों से तृप्ति नहीं होती है । ।।३।।

---

१. ये गाथाएं रट्ठपालत्थेरगाथा (खुद्दकनिकाय खण्ड २, पृ० ३४६-३४८) से उद्धृत की गई हैं। थेरगाथा में अर्हत् भिक्षुओं द्वारा कही गई गाथाएं संकलित हैं। ये साहित्यिक दृष्टि से अनुपम है तथा इन्हें पढ़ने से गीतिकाव्य के समान आनन्द आता है । एक दिन रट्ठपाल थेर कोरव्य राजा के उद्यान में बैठे थे । राजा ने उनसे प्रव्रजित होने का कारण पूछा । उसे उत्तर देते हुए स्थविर ने ये गाथाएं कहीं ।

कन्दन्ति नं ञाती पकिरिय केसे, अहो वता नो अमरा ति चाहु ।
वत्थेन नं पारुतं नीहरित्वा, चितं समोधाय ततो डहन्ति ।।४।।

दायादका तस्स धनं हरन्ति, सत्तो पन गच्छति येन कम्मं ।
न मीयमानं धनमन्वेति किञ्चि, पुत्ता च दारा च धनं च रट्ठं ।।५।।

न दीघमायुं लभते धनेन, न चा पि वित्तेन जरं विहन्ति ।
अप्पप्पं हिदं जीवितमाहु धीरा, असस्सतं विप्परिणामधम्मं ।।६।।

अड्ढा दलिद्दा च फुसन्ति फस्सं, बालो च धीरो च तथेव फुट्ठो ।
बालो हि बाल्या वधितो व सेति, धीरो च नो वेधति फस्सफुट्ठो ।।७।।

(संस्कृतच्छाया)

क्रन्दन्ति नु ज्ञातयः प्रकीर्य केशान् अहो वत न अमरा इत्याहुः ।
वस्त्रेण नु प्रावृतं निर्हृत्य, चितां समाधाय ततो दहन्ति ॥ ४ ॥

दायादकाः तस्य धनं हरन्ति, सत्त्वं पुनर्गच्छति **यत्र** कर्म ।
न म्रियमाणं धनमन्वेति किञ्चित्, पुत्राश्च दाराश्च धनञ्च राष्ट्रम् ॥ ५ ॥

न दीर्घमायुर्लभते धनेन, न चापि वित्तेन जरां विहन्ति ।
अल्पाल्पं हि इदं जीवितमाहुः, धीरा अशाश्वतं विपरिणामधर्मम् ॥ ६ ॥

आढ्या दरिद्राश्च स्पृशन्ति स्पर्शं, बालश्च धीरश्च तथैव स्पृष्टः ।
बालो हि बाल्येन बद्धः इव शेते, धीरश्च च व्यथते स्पर्शस्पृष्टः ॥ ७ ॥

(हिन्दी-अनुवाद)

सम्बन्धी बाल विखेर कर उसके लिए रोते हैं । 'हाय हमारा (बन्धु) अमर होता' इस प्रकार कहते हैं । फिर वस्त्र से ढके हुए उसे ले जाकर चिता बनाकर जला देते हैं । ।।४।।

उत्तराधिकारी उसका धन ले लेते हैं, लेकिन प्राणी जहाँ कर्म (ले जाता है वहाँ) जाता है । मरने वाले (प्राणी) का थोड़ा-सा भी धन अनुगमन नहीं करता (तथा) बाल-बच्चे, स्त्री, धन तथा राष्ट्र (भी अनुगमन नहीं करते हैं) ।।५।।

(प्राणी) धन से दीर्घ आयु नहीं पाता है, और न धन से बुढ़ापा भी नष्ट होता है । (इसलिये) धीर पुरुषों ने इस जीवन को अल्प, अशाश्वत तथा परिवर्तनशील कहा है ।।६।।

(जिस प्रकार) धनी तथा दरिद्र (दुःख-) स्पर्श को पाते हैं । उसी प्रकार मूर्ख और धीर व्यक्ति भी (दुःख से) स्पृष्ट हैं । मूर्ख मूर्खता से पीड़ित होकर पड़ा रहता है (किन्तु) धीर (दुःख-) स्पर्श से युक्त होकर काँपता नहीं है ।।७।।

तस्मा हि पञ्ञा व धनेन सेय्या, याय वोसानमिधाधिगच्छति ।
अब्योसितत्ता हि भवाभवेसु, पापानि कम्मानि करोति मोहा ॥८॥

चोरो यथा सन्धिमुखे गहीतो, सकम्मुना हञ्ञति पापधम्मो ।
एवं पजा पेच्च परम्हि लोके, सकम्मुनो हञ्ञति पापधम्मो ॥९॥

दुमप्फलानीव पतन्ति माणवा, दहरा च वुड्ढा च सरीरभेदा ।
एतं पि दिस्वा पब्बजितोम्हि राज, अपण्णकं सामञ्ञमेव सेय्यो ॥१०॥

(संस्कृतच्छाया)

तस्मात् हि प्रज्ञैव धनात् श्रेयसी, यया व्यवसानमिहाऽधिगच्छति ।
अव्यवसितत्वात् हि भवाभवेषु, पापानि कर्माणि करोति मोहात् ॥ ८ ॥
चौरो यथा सन्धिमुखे गृहीतः, स्वकर्मणा हन्यते पापधर्मा ।
एवं प्रजा प्रेत्य परस्मिन् लोके, स्वकर्मणा हन्यते पापधर्मा ॥ ९ ॥
द्रुमफलानीव पतन्ति मानवाः, दहराश्च वृद्धाश्च शरीरभेदात् ।
एतदपि दृष्ट्वा प्रव्रजितोऽस्मि राजन्, अपर्णकं श्रामण्यमेव श्रेयः ॥ १० ॥

(हिन्दी-अनुवाद)

इसलिए धन से प्रज्ञा ही श्रेष्ठ है, जिससे (मनुष्य) यहाँ (दुःख के) अन्त को प्राप्त करता है । मूर्ख भवाभवों (संसार) का पार न पाने के कारण मोहवश पाप कर्मों को करता है ॥८॥

जिस प्रकार सेंध (लगाते समय उसी) स्थल पर पकड़ा गया पापी चोर अपने कर्म से मारा जाता है, उसी प्रकार पापी लोग मरकर दूसरे लोक में अपने कर्म से मारा जाता हैं ॥९॥

जिस प्रकार वृक्षों से फल गिरते हैं, उसी प्रकार तरुण और वृद्ध मनुष्य भी शरीर के टूटने से गिर जाते हैं । महाराज ! इसे देख कर मैं प्रव्रजित हुआ हूँ, यथार्थ साधुत्व ही श्रेष्ठ है ॥ १० ॥

११. शौचे न पापक्षयः[1]

दकहारी अहं सीते, सदा उदकमोतरिं।
अय्यानं दण्डभयभीता, वाचादोसभयट्टिता ॥ १ ॥

कस्स ब्राह्मण त्वं भीतो, सदा उदकमोतरि।
वेधमानेहि गत्तेहि, सीतं वेदयसे भुसं ॥ २ ॥

जानन्ती च तुवं भोति, पुण्णिके परिपुच्छसि।
करोन्तं कुसलं कम्मं, रुन्धन्तं कतपापकं ॥ ३ ॥

(संस्कृतच्छाया)

उदकहारिणी अहं शीते सदा उदकमवातारिषम्।
आर्याणां दण्डभयभीता वाग्दोषभयार्ता ॥ १ ॥

कस्य (कस्मात्) ब्राह्मण ! त्वं भीतः सदा उदकमवातारीः।
व्यथमानैर्गात्रैः शीतं, वेत्सि भृशम् ॥ २ ॥

जानती च त्वं भवति पूर्णिके परिपृच्छसि।
कुर्वन्तं कुशलं कर्म रुन्धन्तं कृतपापकम् ॥ ३ ॥

(हिन्दी-अनुवाद)

मैं पनहारिन (थी और) स्वामिनी के दण्ड से भयभीत तथा गालियों के भय से पीडित होकर सदा (रात-दिन) पानी में उतरती थी ॥ १ ॥

हे ब्राह्मण ! तुम किसके भय से पीड़ित होकर सदा पानी में उतरते हो तथा काँपते हुए शरीर (-अवयवों) से ठंड सहते हो ॥ २ ॥

हे पूर्णिके ! तू कुशल (पुण्य) कर्म करने वाले तथा किये हुये पाप-कर्म (के फल) को रोकने वाले मुझे जानती हुई पूछ रही है ॥ ३ ॥

---

१. ये गाथाएं पुण्णाथेरीगाथा (खुद्दकनिकाय खण्ड २, पृ० ४३६-४३७) से उद्धृत की गई हैं। थेरगाथा की भाँति थेरीगाथा में भिक्षुणियों द्वारा कही गई गाथाओं का संकलन है। पूर्णा (सेठ अनाथपिण्डिक के घर की दासी) ने जल से शुद्धि मानने वाले एक ब्राह्मण को वास्तविक विशुद्धि के मार्ग में उपनीत किया। बाद में दासत्व से मुक्त एवं भिक्षुणीसंघ में प्रविष्ट होकर उसने पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया। तत्पश्चात् उपर्युक्त ब्राह्मण के साथ हुए संलाप विचारकर उसे गाथाबद्ध कर कहती है।

यो च वुड्ढो दहरो वा, पापकम्मं पकुब्बति ।
दकाभिसेचना सो पि, पापकम्मा पमुच्चति ॥ ४ ॥

को नु ते इदमक्खासि, अजानन्तस्स अजानको ।
दकाभिसेचना नाम, पापकम्मा पमुच्चति ॥ ५ ॥

सग्गं नून गमिस्सन्ति, सब्बे मण्डूककच्छपा ।
नागा च सुसुमारा च, ये चञ्ञे उदके चरा ॥ ६ ॥

ओरब्भिका सूकरिका, मच्छिका मिगबन्धका ।
चोरा च वज्झघाता च, ये चञ्ञे पापकम्मिनो ।
दकाभिसेचना ते पि, पापकम्मा पमुच्चरे ॥ ७ ॥

(संस्कृतच्छाया)

यश्च वृद्धो दहरो वा पापकर्म प्रकरोति ।
उदकाभिषेचनात् सोऽपि पापकर्मणः प्रमुच्यते ॥ ४ ॥

को नु ते इदमाचष्ट अजानतोऽज्ञायकः ।
उदकाभिषेचनेन नाम पापकर्मणः प्रमुच्यते ॥ ५ ॥

स्वर्गं नूनं गमिष्यन्ति सर्वे मण्डूककच्छपाः ।
नागाश्च शिशुमाराश्च ये चान्ये उदके चराः ॥ ६ ॥

औरभ्रिकाः शूकरिका मात्स्यका मृगबन्धकाः ।
चौराश्च वध्यघाताश्च ये चान्ये पापकर्मिणः ।
उदकाभिषेचनेन तेऽपि पापकर्मणः प्रमुच्यन्ते ॥ ७ ॥

(हिन्दी-अनुवाद)

जो वृद्ध या तरुण पाप कर्म करता है, वह भी जल-स्नान के द्वारा पाप कर्म से छुटकारा पा सकता है ॥ ४ ॥

जल-स्नान के द्वारा पाप कर्म से छुटकारा मिल जाता है—यह अज्ञानी का अज्ञानी के लिए (दिया गया उपदेश) तुमसे किसने कहा ॥ ५ ॥

(यदि जल-स्नान से मुक्ति मिले तो) जो मेंढक, कछुवे (जल–) सर्प, मगर तथा अन्य जलचर हैं, (वे) सभी निश्चितरूप से स्वर्ग को जायें ॥ ६ ॥

जो भेड़-बकरी मारने वाले, सुअर मारने वाले, मछुये, शिकारी, चोर, जल्लाद तथा दूसरे पाप करने वाले हैं वे भी जल-स्थान के द्वारा पाप कर्म से मुक्त हो जायें ॥७॥

सचे इमा नदियो ते, पापं पुब्बे कतं वहेय्युं।
पुञ्ञम्पिमा वहेय्युं ते, तेन त्वं परिबाहिरो ॥ ८ ॥

यस्स ब्राह्मण त्वं भीतो सदा उदकमोतरि।
तमेव ब्रह्मे मा कासि, मा ते सीतं छविं हने ॥ ९ ॥

कुमग्गपटिपन्नं मं, अरियमग्गं समानयि।
दकाभिसेचना भोति इमं साटं ददामि ते ॥ १० ॥

(संस्कृतच्छाया)

चेद् इमा नद्यस्ते पापं पूर्वं कृतं वहेयुः।
पुण्यमपि इमा वहेयुः ते तेन त्वं परिबाह्यः ॥ ८ ॥
यस्य (यस्मात्) ब्राह्मण ! त्वं भीतः सदा उदकमवातारीः।
तदेव ब्रह्मन् ! मा कार्षीः मा ते शीते छविं हन्याः ॥ ९ ॥
कुमार्गप्रतिपन्नं माम्, आर्यमार्गं समानैषीत्।
उदकाभिषेचनेन (-षेचनात्) भवति ! इमं शाटं ददामि ते ॥ १० ॥

(हिन्दी-अनुवाद)

यदि ये नदियाँ तुम्हारे पहिले किये गये पाप को बहाती हों तो वे पुण्य को भी बहायेंगी, जिससे तुम (पुण्य और पाप दोनों से) अलग हो जाओगे ॥ ८ ॥

हे ब्राह्मण ! जिस (पाप) से डरकर तुम सदा पानी में उतरते हो, (ज्यादा अच्छा यही है कि) तुम उसी को मत करो और अपनी त्वचा को ठंड से पीड़ित मत करो ॥ ९ ॥

हे स्त्री ! कुमार्ग पर स्थित मुझे तुम सन्मार्ग पर लायी हो। जलस्थान के बाद इस वस्त्र को तुम्हें देता हूँ।

---

१२. दान-वीरः[1]

अरिट्ठसव्हये नगरे, सिविनामासि खत्तियो ।
निसिज्ज पासादवरे, एवं चिन्तेसहं तदा ॥१॥

यं किञ्चि मानुसं दानं, अदिन्नं मे न विज्जति ।
यो पि याचेय्य मं चक्खुं, ददेय्यं अविकम्पितो ॥२॥

मम सङ्कप्पमञ्ञाय, सक्को देवानमिस्सरो ।
निसिन्नो देवपरिसाय, इदं वचनमब्रवि ॥३॥

(संस्कृतच्छाया)

अरिष्टसाह्वये नगरे शिविनामासं क्षत्रियः ।
निषद्य प्रासादवरे एवमचिचिन्तमहं तदा ॥१॥

यत् किञ्चिद् मानुषं दानं अदत्तं मे न विद्यते ।
योऽपि याचेद् मां चक्षुः दद्यामविकम्पितः ॥२॥

मम संकल्पमाज्ञाय शक्रो देवानामीश्वरः ।
निषण्णो देवपरिषदि इदं वचनमवोचत् ॥३॥

(हिन्दी-अनुवाद)

अरिष्ट नामक नगर में (जब मैं) शिवि नामक क्षत्रिय (राजा) था, तब श्रेष्ठ प्रासाद में बैठकर मैंने ऐसा विचार किया ॥१॥

जो कुछ भी मानुष-दान है, वह मेरे लिए अदत्त (नहीं दिया गया) नहीं है। जो भी मेरी आँखों को मांगेगा, अविचिलित होकर (मैं) दे दूँगा ॥२॥

देवताओं के स्वामी इन्द्र ने मेरे संकल्प को जानकर देव-परिषद् में बैठे हुए यह बात कही ॥३॥

---

१. प्रस्तुत पद्यांश चरियापिटक में संकलित सिविराजचरिया (खुद्दकनिकाय खण्ड ७, पृ० ३९१-३९२) से उद्धृत किया गया है। चरियापिटक में भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्मों की चर्याओं का वर्णन है। इनमें यह दिखाया गया है कि किस प्रकार भगवान् ने अपने पूर्व जन्मों में दान, शील, नैष्क्रम्य आदि सद्गुणों में पूर्णता प्राप्त की। प्रस्तुत पाठ में यह दिखाया गया है कि जब भगवान् बुद्ध पूर्व जन्म में शिवि नामक राजा थे तो उन्होंने याचक के मांगने पर अपनी दोनों आँखें दे दीं।

निसज्ज पासादवरे, सिविराजा महिद्धिको ।
चिन्तेन्तो विविधं दानं, अदेय्यं सो न पस्सति ॥४॥

तथं नु वितथं नेतं, हन्द वीमंसयामि तं ।
मुहुत्तं आगमेय्याथ, याव जानामि तं मनं ॥५॥

पवेधमानो पलितसिरो, वलिगत्तो जरातुरो ।
अन्धवण्णो व हुत्वान, राजानं उपसङ्कमि ॥६॥

सो तदा पग्गहेत्वान, वामं दक्खिणबाहु च ।
सिरस्मि अञ्जलिं कत्वा, इदं वचनमब्रवि ॥७॥

(संस्कृतच्छाया)

निषद्य प्रासादवरे शिविराजो महर्द्धिकः ।
चिन्तयन् विविधं दानम्, अदेयं स न पश्यति ॥४॥

तथ्यन्नु वितथन्नु एतत्, हन्त विमीमांसे तत् ।
मुहूर्तमागच्छेत (प्रतीक्षध्वम्) यावज्जानामि तन्मनः ॥५॥

प्रव्यथमानः पलितशिरा वलिगात्रो जरातुरः ।
अन्धवर्ण इव भूत्वा राजानमुपसमक्रमीत् ॥६॥

स तदा प्रगृह्य वामं दक्षिणं बाहुं च ।
शिरसि अञ्जलिं कृत्वा इदं वचनमवोचत् ॥७॥

(हिन्दी-अनुवाद)

वह महा वैभवशाली शिवि राजा श्रेष्ठ प्रासाद में बैठकर विविध दान को विचारते हुए अदेय (नहीं देने योग्य) को नहीं देखता है ॥४॥

यह सत्य है या असत्य, अच्छा हो (मैं) उसकी परीक्षा लूं, मुहूर्त भर ठहरें, जब तक (मैं) उसके मन को जान लूं ॥५॥

(वह) काँपते हुए, पके-सिर, झुर्री पड़े शरीर, बुढ़ापे से आतुर, अन्धे के रूप को धारण कर राजा के पास गया ॥६॥

तब उसने बायें-दायें दोनों हाथों को उठाकर शिर पर अञ्जलि (जोड़) कर यह बात कही ॥७॥

याचामि तं महाराज, धम्मिक रट्ठवड्ढन ।
तव दानरता कित्ति, उग्गता देवमानुसे ॥ ८ ॥

उभो पि नेत्ता नयना, अन्धा उपहता मम ।
एकं मे नयनं देहि, त्वं पि एकेन यापय ॥ ९ ॥

तस्साहं वचनं सुत्वा, हट्ठो संविग्गमानसो ।
कतञ्जली वेदजातो, इदं वचनमब्रविं ॥ १० ॥

इदानाहं चिन्तयित्वान, पासादतो इधागतो ।
त्वं मम चित्तमञ्ञाय, नेत्तं याचितुमागतो ॥ ११ ॥

(संस्कृतच्छाया)

याचामि त्वां महाराज ! धार्मिक ! राष्ट्रवर्धन ! ।
तव दानरता कीर्तिः उद्गता देवमानुषे ॥ ८॥

उभेऽपि नेत्रे नयने अन्धे उपहते मम ।
एकं मे नयनं देहि त्वमपि एकेन यापय ॥ ९॥

तस्याऽहं वचनं श्रुत्वा हृष्टः संविग्नमानसः ।
कृताञ्जलिर्वेदजात इदं वचनमवोचम् ॥१०॥

इदानीमहं चिन्तयित्वा प्रासादतः इहागतः ।
त्वं मम चित्तमाज्ञाय नेत्रं याचितुमागतः ॥११॥

(हिन्दी-अनुवाद)

हे धार्मिक ! राष्ट्रवर्धन ! महाराज ! तुम्हारी दान-प्रेम की कीर्ति देव और मनुष्यों में फैली हुई है । (मैं) तुमसे मांगता हूँ ॥८॥

मेरे दोनों नेत्र नयन अन्धे और नष्ट हो गये हैं । एक आँख मेरे लिए दें, एक से आप भी काम चलायें ॥९॥

उसके वचन को सुनकर प्रसन्न, संविग्नमन वाले मैंने हाथ जोड़कर तथा उत्साही हो यह बात कही ॥१०॥

अभी मैं विचार कर प्रासाद से यहाँ आया हूँ । तुम मेरे चित्त की जानकर नेत्र मांगने आये हो ॥११॥

अहो मे मानसं सिद्धं, सङ्कप्पो परिपूरितो।
अदिन्नपुब्बं दानवरं, अज्ज दस्सामि याचके ॥ १२ ॥

एहि सिवक उट्ठेहि, मा दन्धयि मा पवेधयि।
उभो पि नयनं देहि, उप्पाटेत्वा वणिब्बके ॥ १३ ॥

ततो सो चोदितो मय्हं, सिवको वचनं करो।
उद्धरित्वान पादासि, तालमिञ्जं व याचके ॥ १४ ॥

(संस्कृतच्छाया)

अहो मे मानसं सिद्धं संकल्पः परिपूरितः।
अदत्तपूर्वं दानवरं अद्य दास्यामि याचकेभ्यः ॥१२॥

एहि शिवक ! उत्तिष्ठ मा ततन्द्रः मा व्यथिष्ठाः।
उभेऽपि नयने देहि उत्पाट्य वनीयकेभ्यः ॥१३॥

ततः स चोदितो मम शिवको वचनङ्करः।
उद्धृत्य प्रादात् तालमज्जामिव याचकेभ्यः ॥१४॥

(हिन्दी-अनुवाद)

अहो मेरे मन की बात सिद्ध हो गई, संकल्प पूर्ण हो गया, पहले नहीं दिये हुए श्रेष्ठ दान को आज याचक के लिए दूँगा ॥१२॥

शिवक ! आओ, उठो, देर मत करो विचलित मत हो, मेरे दोनों नेत्रों को निकाल कर याचक को दे दो ॥१३॥

तब मेरी बात को मानने वाला मेरे द्वारा प्रेरित उसने ताड़ की गुद्दी की तरह (मेरी आँखों को) निकाल कर याचक को देदी ॥१४॥

अनुपिटक-साहित्य[1]

१३. प्रार्थनाशरणम्[2]

अतीते किर कस्सपस्स भगवतो सासने वत्तमाने गङ्गाय समीपे एकस्मिं आवासे महाभिक्खुसङ्घो पटिवसति। तत्थ वत्तसीलसम्पन्ना भिक्खू पातो व उट्ठाय यट्ठिसम्मज्जनियो आदाय बुद्धगुणे आवज्जन्ता अङ्गणं सम्मज्जित्वा कचवरब्यूहं करोन्ति। अथेको भिक्खु एकं सामणेरं 'एहि सामणेर, इमं कचवरं

(संस्कृतच्छाया)

अतीते किल कश्यपस्य भगवतः शासने वर्तमाने गङ्गायाः समीपे एकस्मिन् आवासे महाभिक्षुसङ्घः प्रतिवसति। तत्र व्रतशीलसम्पन्नाः भिक्षवः प्रातरेवोत्थाय यष्टिसम्मार्जनीः आदाय बुद्धगुणान् आवर्जन्तोऽङ्गणं सम्मार्ज्य कच्चरव्यूहं कुर्वन्ति। अथैको भिक्षुः एकं श्रामणेयम् 'एहि श्रामणेय! इदं

(हिन्दी-अनुवाद)

अतीत काल में भगवान् काश्यप के शासन के समय गङ्गा (नदी) के समीप एक आश्रम में एक बड़ा भिक्षु-संघ रहता था। वहाँ व्रत और शील से सम्पन्न भिक्षु प्रातः काल ही उठकर डण्डे वाली झाड़ुओं को लेकर बुद्ध गुणों का स्मरण करते हुए आँगन को झाड़कर कूड़े को इकट्ठा करते थे। तब एक भिक्षु ने एक श्रामणेर से 'श्रामणेर!

---

१. त्रिपिटक (बुद्ध के उपदेशों का संग्रह) का अन्तिम संकलन ई० पू० तृतीय शताब्दी में कर लिया गया था। ईसा की ४-५ शताब्दी में बुद्धदत्त, बुद्धघोष आदि ने उन पर अट्ठकथाएं लिखीं। पालि त्रिपिटक के अन्तिम रूप धारण कर लेने और इन अट्ठकथाओं के रचना काल के बीच जिस साहित्य की रचना हुई उसे अनुपिटक साहित्य कहा जाता है। इस साहित्य में नेत्तिपकरण, पेटकोपदेस तथा मिलिन्दपञ्ह—ये तीन ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध हैं।

२. प्रस्तुत गद्यांश मिलिन्दपञ्हो (पृ० २-४) से उद्धृत किया गया है। मिलिन्दपञ्हो अपने युग की अत्यधिक प्रसिद्ध रचना है। बुद्धघोष ने इस ग्रन्थ को अपनी अट्ठकथाओं में त्रिपिटक के समान ही सम्मान देते हुए उद्धृत किया है। इसका रचना काल द्वितीय या प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व माना जाता है। साहित्य एवं दर्शन दोनों ही दृष्टियों से यह स्थविरवाद बौद्धधर्म का एक बड़ा गौरव है। यहाँ भिक्षु से दण्डित होकर एक श्रामणेर की प्रार्थना का वर्णन है।

छड्डेही' ति आह। सो असुणन्तो विय गच्छति। सो दुतियम्पि ततियम्पि आमन्तियमानो असुणन्तो विय गच्छतेव। ततो सो भिक्खु 'दुब्बचो वतायं सामणेरो' ति कुद्धो सम्मज्जनिदण्डेन पहारं अदासि। ततो सो रोदन्तो भयेन कचवरं छड्डेन्तो 'इमिनाहं कचवरछड्डनपुञ्ञकम्मेन यावाहं निब्बानं पापुणामि एत्थन्तरे निब्बत्तनिब्बत्तट्ठाने मज्झन्तिकसुरियो विय महेसक्खो महातेजो भवेय्यं'ति पठमपत्थनं पट्ठपेसि। कचवरं छड्डेत्वा नहानत्थाय गङ्गातित्थं गतो गङ्गाय ऊमिवेगं गग्गरायमानं दिस्वा—'यावाहं निब्बानं पापुणामि एत्थन्तरे निब्बत्तनिब्बत्तट्ठाने अयं ऊमिवेगो विय ठानुप्पत्तिकपटिभानो भवेय्यं अक्खयपटिभानो' ति दुतियम्पि पत्थनं पट्ठपेसि।

(संस्कृतच्छाया)

कच्चरं छर्दय' इत्याह। सोऽश्रृण्वन्निव गच्छति। स द्वितीयमपि तृतीयमपि आमन्त्र्यमाणोऽश्रृण्वन्निव गच्छत्येव। ततः स भिक्षुः 'दुर्वचा वतायं श्रामणेयः' इति क्रुद्धः सम्मार्जनीदण्डेन प्रहारं अदात्। ततः स रुदन् भयेन कच्चरं छर्दयन् 'अनेन अहं कच्चरछर्दनपुण्यकर्मणा यावदहं निर्वाणं प्राप्नोमि; अत्राऽन्तरे निर्वृत्तनिर्वृत्तस्थाने मध्याह्निकसूर्यः इव महाशक्तः महातेजा भवेयम्' इति प्रथमप्रार्थनां प्रातिष्ठिपत्। कच्चरं छर्दयित्वा स्नानार्थाय गङ्गातीर्थं गतः गङ्गायाम् ऊर्मिवेगं गर्गरायमाणं दृष्ट्वा—'यावदहं निर्वाणं प्राप्नोमि अत्रान्तरे निर्वृत्तनिर्वृत्तस्थाने अयं ऊर्मिवेगः इव स्थानोत्पत्तिकप्रतिभानो भवेयम् अक्षयप्रतिभानः' इति द्वितीयामपि प्रार्थनां प्रातिष्ठिपत्।

(हिन्दी-अनुवाद)

आओ, इस कूड़े को फेंक दो' इस प्रकार कहा। वह (श्रामणेर) अनसुने की तरह चलता रहा। दूसरी बार, तीसरी बार भी बुलाया गया (पर) वह अनसुने की तरह चलता ही रहा। तब उस भिक्षु ने 'यह श्रामणेर बड़ा दुर्विनीत (उद्दण्ड) है' इस प्रकार क्रुद्ध हो झाड़ू के डण्डे से प्रहार किया। तब वह रोता हुआ भय से कूड़ा फेंकता हुआ 'इस कूड़े को फेंकने के पुण्य कर्म से जब तक मैं निर्वाण प्राप्त करूँ उसके भीतर जहाँ-जहाँ जन्म ग्रहण करूँ, दोपहर के सूर्य के समान महाशक्तिशाली महातेजस्वी होऊँ' इस प्रकार प्रथम प्रार्थना की। कूड़े को छोड़कर नहाने के लिये गङ्गा के घाट गए हुए (उसने) गङ्गा की तरङ्गों के वेग को देखकर—'जब तक मैं निर्वाण को प्राप्त करूँ उसके भीतर जहाँ-जहाँ जन्म ग्रहण करूँ इस लहर-वेग की तरह प्रत्युत्पन्न-मति तथा प्रतिभा (अक्षुण्य ज्ञान) वाला होऊँ' इस प्रकार दूसरी प्रार्थना भी की।

सो पि भिक्खु सम्मज्जनिसालाय सम्मज्जनिं ठपेत्वा नहानत्थाय गङ्गातित्थं गच्छन्तो सामणेरस्स पत्थनं सुत्वा—'एस, मया पयोजतो पि ताव एवं पत्थेसि, मय्हं किं न समिज्झिस्सती' ति चिन्तेत्वा 'यावाहं निब्बानं पापुणामि एत्थन्तरे निब्बत्तनिब्बत्तट्ठाने अयं गङ्गाऊमिवेगो विय अक्खयपटिभानो भवेय्यं, इमिना पुच्छितपुच्छितं सब्बं पञ्हपटिभानं विजटेतुं निब्बेठेतुं समत्थो भवेय्यं' ति पत्थनं पट्ठपेसि ।

(तेसु सामणेरो जम्बुदीपे सागलनगरे मिलिन्दो नाम राजा अहोसि, भिक्खु च नागसेनो नाम थेरो अहोसि ।)

(संस्कृतच्छाया)

सोऽपि भिक्षुः सम्मार्जनीशालायां सम्मार्जनीं स्थापयित्वा स्नानार्थाय गङ्गातीर्थं गच्छन् श्रामणेयस्य प्रार्थनां श्रुत्वा—एष मया प्रयोजितोऽपि तावदेवं प्रार्थयते मह्यं किं न समृत्स्यति' इति चिन्तयित्वा 'यावदहं निर्वाणं प्राप्नोमि अत्रान्तरे निर्वृत्तनिर्वृत्तस्थाने अयं गङ्गोर्मिवेगः इव अक्षयप्रतिभानो भवेयम् अनेन पृष्टपृष्टं सर्वं प्रश्नप्रतिभानं विजटयितुं निर्वेष्टयितुं समर्थो भवेयम्' इति प्रार्थनां प्रातिष्ठिपत् ।

(तयोः श्रामणेयः जम्बूद्वीपे शाकलनगरे मिलिन्दो नाम राजा अभूत् भिक्षुश्च नागसेनो नाम स्थाविरोऽभूत्)

(हिन्दी-अनुआद)

उस भिक्षु ने भी झाड़ू रखने की जगह झाड़ू रखकर नहाने के लिए गङ्गा-घाट को जाते हुए श्रामणेर की प्रार्थना सुनकर 'मेरे द्वारा प्रेरित होने पर अगर यह (श्रामणेर) इस प्रकार प्रार्थना करता है तो मेरे लिए क्या (इसका) फल नहीं मिलेगा' इस प्रकार विचारकर 'जब तक मैं निर्वाण को पाऊँ इसके भीतर जहाँ जहाँ जन्म ग्रहण करूं, इस गङ्गा की तरंगों के वेग की तरह प्रत्युत्पन्नमतिवाला होऊँ तथा इसके द्वारा पूछे गये सभी प्रश्नों की गुत्थियों को सुलझाने तथा स्पष्ट करने में समर्थ होऊँ—इस प्रकार प्रार्थना की ।

(उनमें श्रामणेर जम्बूद्वीप के सागलनगर में मिलिन्द नाम का राजा तथा भिक्षु नागसेन नाम का स्थविर हुआ ।)

---

१४. महाकरुणा[1]

यदि, भन्ते नागसेन, बुद्धो जानाति देवदत्तो पब्बजित्वा सङ्घं भिन्दिस्सति, सङ्घं भिन्दित्वा कप्पं निरये पच्चिस्सती' ति, तेन हि, भन्ते, 'बुद्धो कारुणिको अनुकम्पको हितेसी सब्बसत्तानं अहितं अपनेत्वा हितमुपदहती' ति यं वचनं तं मिच्छा। 'यदि तं अजानित्वा पब्बाजितो' ति, तेन हि बुद्धो असब्बञ्ञू। अयं पि उभतोकोटितो पञ्हो तवानुप्पत्तो। विजटेहि एतं महाजटं, भिन्द परप्पवादं, अनागते अद्धाने तया सदिसा बुद्धिमन्तो भिक्खू दुल्लभा भविस्सन्ति, एत्थ तव बलं पकासेही' ति।

(संस्कृतच्छाया)

यदि भदन्त नागसेन ! बुद्धो जानाति देवदत्तः प्रव्रज्य सङ्घं भेत्स्यति, सङ्घं भित्त्वा कल्पं निरये पक्ष्यति' इति तेन हि भदन्त ! 'बुद्धः कारुणिकः अनुकम्पकः हितैषी सर्वसत्त्वानामहितमपनीय हितमुपदधाति' इति यद् वचनं तद् मिथ्या। 'यदि तम् अज्ञात्वा प्रव्राजितः' इति; तेन हि बुद्धोऽसर्वज्ञः। अयमपि उभयतः कोटितः प्रश्नः तवानुप्राप्तः विजटय्य एतां महाजटाम्, भिन्धि परप्रवादम्; अनागते अध्वनि त्वया सदृशा बुद्धिमन्तो भिक्षवो दुर्लभाः भविष्यन्ति। अत्र तव बलं प्रकाशय' इति।

(हिन्दी-अनुवाद)

भन्ते नागसेन ! यदि (भगवान्) बुद्ध जानते थे (कि) देवदत्त प्रव्रजित होकर संघ में फूट डालेगा, संघ में फूट डालकर कल्प भर नरक में पकेगा, तो फिर भन्ते ! ('भगवान्) बुद्ध करुणाशील, दयालु, हितैषी (तथा) सभी प्राणियों के अहित को दूरकर हित करने वाले थे' इस प्रकार जो कथन (है) वह मिथ्या हुआ। 'यदि उसको बिना जाने प्रव्रज्या दी गई, तो फिर बुद्ध असर्वज्ञ ठहरे। यह भी दुविधापूर्ण प्रश्न आपके सामने प्रस्तुत है। इस बड़ी उलझन को सुलझाइये, परमत के तर्क को काटिये। भविष्य में तुम्हारे जैसा बुद्धिमन्त भिक्षुओं का होना कठिन है। यहाँ आप (अपना बुद्धि-) बल दिखायें।

---

१. प्रस्तुत गद्यांश मिलिन्दपञ्हो के मेण्डकपञ्हो (पृ० ११ .-११२) से उद्धृत किया गया है। इस परिच्छेद में ऊपर से विरोधी दिखाई देने वाले त्रिपिटक के विभिन्न विवरणों या बुद्धवचनों के विरोध का परिहार कर उसमें समन्वय स्थापन किया गया है। प्रस्तुत पाठ में देवदत्त की प्रव्रज्या को लेकर राजा मिलिन्द विरोधी बातें प्रस्तुत करता है जिसका स्थविर नागसेन परिहार कर समन्वय स्थापित करते हैं।

कारुणिको, महाराज, भगवा सब्बञ्ञू च। कारुञ्ञेन महाराज, भगवा, सब्बञ्ञुतञाणेन देवदत्तस्स गतिं ओलोकेन्तो अद्दसा देवदत्तं आपायिकं कम्मं आयूहित्वा अनेकानि कप्पकोटिसतसहस्सानि निरयेन निरयं विनिपातेन विनिपातं गच्छन्तं। तं भगवा सब्बञ्ञुतञाणेन जानित्वा 'इमस्स अपरियन्तकतं कम्मं मम सासने पब्बजितस्स परियन्तकतं भविस्सति अपब्बजितो पि अयं मोघपुरिसो कप्पट्ठियमेव कम्मं आयूहिस्सती' ति कारुञ्ञेन देवदत्तं पब्बाजेसी ति। तेन हि, भन्ते नागसेन, बुद्धो वधित्वा तेलेन मक्खेति, पपाते पातेत्वा हत्थं देति मारेत्वा जीवितं परियेसति यं सो पठमं दुक्खं दत्वा पच्छा सुखं उपदहती ति। वधेति पि, महाराज, तथागतो सत्तानं हितवसेन, पातेति पि

(संस्कृतच्छाया)

कारुणिकः महाराज ! भगवान् सर्वज्ञश्च। कारुण्येन महाराज ! भगवान् सर्वज्ञताज्ञानेन देवदत्तस्य गतिमवलोकयन् अद्राक्षीद् देवदत्तमपायिकं कर्म ओह्य अनेकानि कल्पकोटिशतसहस्राणि निरयाद् निरयं विनिपाताद् विनिपातं गच्छन्तम्। तद् भगवान् सर्वज्ञताज्ञानेन ज्ञात्वा 'अस्य अपर्यन्तकृतं कर्म मम शासने प्रव्रजितस्य पर्यन्तकृतं भविष्यति; अप्रव्रजितोऽपि अयं मोघपुरुषः कल्पस्थितमेव कर्म ओहिष्यति' इति कारुण्येन देवदत्तं प्रावव्रजदिति। 'तेन हि भदन्त नागसेन ! बुद्धो हत्वा तैलेन म्रक्षति, प्रपाते पातयित्वा हस्तं ददाति, मारयित्वा जीवितं पर्येषयति यत् प्रथमं दुःखं दत्वा पश्चात् सुखमुपदधाति' इति। हन्ति अपि महाराज ! तथागतः सत्त्वानां हितवशेन;

(हिन्दी-अनुवाद)

महाराज ! भगवान् करुणाशील और सर्वज्ञ (दोनों थे)। महाराज ! भगवान् ने कारुण्य तथा सर्वज्ञता के ज्ञान से देवदत्त की गति को देखते हुए देवदत्त को दुःखदायी कर्म (को उत्पन्न) कर अनेक करोड़ लाखों कल्पों तक नरक से नरक को, पतन से पतन को जाते हुए देखा। भगवान् ने उसको सर्वज्ञता के ज्ञान से जानकर 'इसका असीमित (फल को किया गया) कर्म मेरे शासन में प्रव्रजित होने से सीमित (फल को किया गया) होगा, (प्रव्रजित न होने पर भी) यह मूर्ख पुरुष कल्प भर स्थित रहने वाले कर्म को उत्पन्न करेगा ही' इस प्रकार करुणा-भाव से प्रव्रज्या दे दी। 'भन्ते नागसेन; तब तो (भगवान्) बुद्ध चोट पहुँचाकर तैल की मालिश करते हैं, पर्वत के ढाल पर गिराकर हाथ (का सहारा) देते हैं, मारकर

सत्तानं हितवसेन, मारेति पि सत्तानं हितवसेन, वधित्वा पि महाराज तथागतो सत्तानं हितमेव उपदहति, पातेत्वा पि सत्तानं हितमेव उपदहति, मारेत्वा पि सत्तानं हितमेव उपदहति। यथा महाराज मातापितरो नाम वधित्वा पि पातयित्वा पि पुत्तानं हितमेव उपदहन्ति, एवमेव खो महाराज तथागतो वधेति पि सत्तानं हितवसेन, पातेति पि सत्तानं हितवसेन, मारेति पि सत्तानं हितवसेन। वधित्वा पि महाराज तथागतो सत्तानं हितमेव उपदहति, पातेत्वा पि सत्तानं हितमेव उपदहति, मारेत्वा पि सत्तानं हितमेव उपदहति, येन येन योगेन सत्तानं गुणवड्ढि होति, तेन तेन योगेन सब्बसत्तानं हितमेव उपदहति।

(संस्कृतच्छाया)

पातयत्यपि सत्त्वानां हितवशेन; मारयत्यऽपि सत्त्वानां हितवशेन। हत्वाऽपि महाराज! तथागतः सत्त्वानां हितमेव उपदधाति पातयित्वाऽति सत्त्वानां हितमेव उपदधाति मारयित्वापि सत्त्वानां हितमेव उपदधाति। यथा, महाराज! मातापितरौ नाम हत्वाऽपि पातयित्वाऽति पुत्राणां हितमेव उपधत्तः, एवमेव खलु महाराज! तथागतो हन्ति अपि सत्त्वानां हितवशेन; पातयत्यपि सत्त्वानां हितवशेन; मारयत्यपि सत्त्वानां हितवशेन। हत्वापि महाराज! तथागतो सत्त्वानां हितमेव उपदधाति; पातयित्वाऽपि सत्त्वानां हितमेव उपदधाति; मारयित्वाऽपि सत्त्वानां हितमेव उपदधाति। येन येन योगेन सत्त्वानां गुणवृद्धिर्भवति, तेन तेन योगेन सर्वसत्त्वानां हितमेव उपदधाति।

(हिन्दी-अनुवाद)

जीवित (करने) की इच्छा करते हैं, जो वह पहले दुःख देकर बाद में सुख देते हैं।'

'महाराज! तथागत प्राणियों के हित के कारण से पीटते भी हैं, प्राणियों के हित के कारण से गिराते भी हैं, प्राणियों के हित के कारण से मारते भी हैं; महाराज! तथागत पीटकर भी प्राणियों के हित को ही करते हैं, गिराकर भी प्राणियों का हित ही करते हैं, मारकर भी प्राणियों का हित ही करते हैं। जैसे, महाराज, माता-पिता पीटकर भी, गिराकर भी पुत्रों का हित ही करते हैं, इसी प्रकार हे महाराज! तथागत प्राणियों के हित के कारण से पीटते भी हैं, प्राणियों के हित के कारण से गिराते भी हैं, प्राणियों के हित के कारण से मारते भी हैं। पीटकर भी महाराज! तथागत प्राणियों का हित ही करते हैं, गिराकर भी प्राणियों का हित ही करते हैं, मारकर भी प्राणियों का हित ही करते हैं। जिस-जिस कारण से प्राणियों की गुण-वृद्धि होती है, उस-उस कारण से सभी प्राणियों का हित ही करते हैं।

अर्थ (अट्ठ) कथा-साहित्य[1]

१५. मिथ्यादण्डः[2]

ते पि खो तित्थिया भिक्खुसङ्घेन धम्मेन विनयेन सत्थुसासनेन निग्गय्हमाना पि धम्मविनयानुलोमाय पटिपत्तिया असण्ठहन्ता अनेकरूपं सासनस्स अब्बुदं च मलं च कण्टकं च समुट्ठापेसुं। केचि अग्गिं परिचरन्ति, केचि पञ्चातपे

(संस्कृतच्छाया)

तेऽपि खलु तैर्थिकाः भिक्षुसङ्घेन धर्मेण विनयेन शास्तृ-शासनेन निगृह्यमाणा अपि धर्मविनयानुलोम्न्यां प्रतिपत्तौ असंतिष्ठमानाः अनेकरूपं शासनस्य अर्बुदञ्च मलञ्च कण्टकञ्च समुपातिष्ठिपन्। केचिद् अग्निं परिचरन्ति; केचित् पञ्चातपान्

(हिन्दी-अनुवाद)

(उस समय) वे तीर्थिक (अन्य मत वाले) भिक्षु-संघ, धर्म, विनय तथा शास्ता के शासन से रोके जाने पर भी धर्म और विनय के अनुरूप अभ्यास (आचरण) में स्थिर न होकर अनेक प्रकार से शासन के लिए कलंक, मैल तथा बाधा उपस्थित

---

१. जैसे वेदों का अर्थ स्पष्ट करने के लिए सायणाचार्य ने बृहद् भाष्य लिखा है, वैसे ही आचार्य बुद्धघोष तथा दूसरे आचार्यों ने सारे त्रिपिटक पर सुन्दर भाष्य लिखे हैं जिन्हें 'अट्ठकथा' कहते हैं। अट्ठकथाओं की उल्लेखनीय बात यह है कि इनमें न केवल त्रिपिटक में संगृहीत बुद्धवचनों की व्याख्या है अपितु ये तत्कालीन भारतीय संस्कृति, राजनीति, समाज आदि ऐतिहासिक बातों की सामग्री से भरपूर हैं। इनकी भाषा सरल एवं सुन्दर है। बौद्ध देशों में अट्ठकथाओं का त्रिपिटक के समान ही गौरवपूर्ण स्थान है।

२. प्रस्तुत गद्यांश 'समन्तपासादिका नाम विनयट्ठकथा' (खण्ड १, पृ० ४६-४८) से उद्धृत किया गया है। बौद्धधर्मावलम्बी सम्राट् अशोक के दानों से आकृष्ट होकर अनेक अबौद्ध बौद्ध भिक्षुसंघ में घुस आये तथा संघ में वर्जित नाना प्रकार के असदाचरणों को करने लगे। इससे क्षुब्ध होकर भिक्षुसंघ के वास्तविक भिक्षुओं ने उपोसथ (पाति-मोक्ख का पाठ) को, जो कि संघ का आवश्यक कृत्य था, करना बन्द कर दिया। सम्राट् अशोक ने संघ में पुनः उपोसथ प्रारम्भ कराने के लिए एक अमात्य को भेजा जिसने अपनी मूर्खता से उपोसथ न करने वाले भिक्षुओं को मारना शुरू कर दिया। प्रस्तुत पाठ में इसी का वर्णन है।

तप्पन्ति, केचि आदिच्चं अनुपरिवत्तन्ति, केचि 'धम्मं च विनयं च वोभिन्दिस्सामा' ति पग्गण्हिसु। तदा भिक्खुसङ्घो न तेहि सद्धिं उपोसथं वा पवारणं वा अकासि। असोकारामे सत्तवस्सानि उपोसथो उपच्छिज्जि। रञ्ञो पि एतमत्थं आरोचेसुं। राजा एकं अमच्चं आणापेसि—'विहारं गन्त्वा अधिकरणं वूपसामेत्वा उपोसथं कारापेही' ति। अमच्चो राजानं पटिपुच्छितुं अविसहन्तो अञ्ञे अमच्चे उपसङ्कमित्वा आह—"राजा मं विहारं गन्त्वा अधिकरणं वूपसामेत्वा उपोसथं कारापेही' ति पहिणि। कथं नु खो अधिकरणं वूपसम्मती" ति? ते आहंसु—'मयं एवं सल्लक्खेम यथा नाम पच्चन्तं वूपसामेन्ता चोरे घातेन्ति, एवमेव ये उपोसथं न करोन्ति ते मारापेतुकामो राजा भविस्सती'

(संस्कृतच्छाया)

तर्पयन्ति; केचिद् आदित्यमनुपरिवर्तन्ते; केचिद् 'धर्मञ्च विनयञ्च व्यवभेत्स्यामः' इति प्राग्रहिषुः। तदा भिक्षुसङ्घो न तैः सार्धमुपोसथं वा प्रवारणां वा अकार्षीत्। अशोकारामे सप्तवर्षाणि उपोसथः उपाच्छैत्सीत्। राज्ञेऽपि एतमर्थम् आरोचिषत। राजा एकममात्यम् आजिज्ञपत्—'विहारं गत्वा अधिकरणं व्युपशम्य उपोसथं कारय' इति। अमात्यो राजानं प्रतिप्रष्टुम् अविषहमानोऽन्यान् अमात्यान् उपसङ्क्रम्य अवोचत्—राजा मां विहारं गत्वा अधिकरणं व्युपशम्य उपोसथं कारय' इति प्राहैषीत्। कथं नु खलु अधिकरणं व्युपशम्यते' इति। तेऽवोचन्—'वयमेवं संलक्षयामः—यथा नाम प्रत्यन्तमुपशमयन्तः चौरान् घातयन्ति, एवमेव ये उपोसथं न कुर्वन्ति तान् मारयितुकामो राजा

(हिन्दी-अनुवाद)

करने लगे। कोई अग्नि की परिचर्या करते थे, कोई पञ्चाग्नि तप करते थे, कोई सूर्य की पूजा करते थे, किन्हीं ने 'धर्म और विनय को समाप्त कर देंगे'—इस प्रकार निश्चय कर लिया था। तब भिक्षुसंघ उनके साथ उपोसथ या प्रवारणा नहीं करता था। अशोकाराम में सात वर्षों तक उपोसथ समाप्त रहा। (लोगों ने) राजा से भी इस बात को कहा। राजा ने एक मंत्री को आज्ञा दी 'विहार में जाकर झगड़ा शान्त कर उपोसथ कराओ'। अमात्य ने राजा से पूछने की हिम्मत न कर दूसरे मन्त्रियों के पास जाकर कहा—"राजा ने मुझे 'विहार में जाकर झगड़ा शान्त कर उपोसथ करवाओ'—इस प्रकार कह कर भेजा है। झगड़ा कैसे शान्त होता है"? वे (अन्य मन्त्री) बोले—'हम ऐसा समझते हैं कि जैसे सीमान्त को शान्त करने वाले चोरों को मार डालते हैं इसी प्रकार जो उपोसथ नहीं करते हैं राजा उन्हें मरवाने का

ति। अथ सो अमच्चो विहारं गन्त्वा भिक्खुसङ्घं सन्निपातेत्वा आह—"अहं रञ्ञा 'उपोसथं कारापेही' ति पेसितो। करोथ दानि, भन्ते, उपोसथं" ति। भिक्खू 'न मयं तित्थियेहि सद्धिं उपोसथं करोमा' ति आहंसु। अथ अमच्चो थेरासनतो पट्ठाय असिना सीसानि पातेतुं आरद्धो।

अद्दसा खो तिस्सत्थेरो तं अमच्चं तथा विप्पटिपन्नं। सो तं अमच्चं तथा विप्पटिपन्नं दिस्वा चिन्तेसि—'न राजा थेरे मारापेतुं पहिणेय्य, अद्धा इमस्सेवेतं अमच्चस्स दुग्गहितं भविस्सती' ति गन्त्वा सयं तस्स आसन्ने आसने निसीदि। सो थेरं सञ्जानित्वा सत्थं निपातेतुं अविसहन्तो गन्त्वा रञ्ञो आरो-

(संस्कृतच्छाया)

भविष्यति' इति। अथ सोऽमात्यो विहारं गत्वा भिक्षुसङ्घं सन्निपात्य अवोचत्—"अहं राज्ञा 'उपोसथं कारय' इति प्रेषितः। कुरुथ इदानीं, भदन्ताः! उपोसथम्" इति। भिक्षवः 'न वयं तीर्थिकैः सार्धं उपोसथं कुर्मः' इति अवोचन्। अथ अमात्यः स्थविरासनतः प्रस्थाय असिना शिरांसि पातयितुमारब्धः।

अद्राक्षीत् खलु तिष्यस्थविरः तम् अमात्यं तथा विप्रतिपन्नम्। सः तम् अमात्यं तथा विप्रतिपन्नं दृष्ट्वा अचिचिन्तत्—'न राजा स्थविरान् मारयितुं प्रहिणुयात्! अद्धा अस्यैवैतद् अमात्यस्य दुर्गृहीतं भविष्यति' इति गत्वा स्वयं तस्य आसन्ने आसने न्यसीदत्। सः स्थविरं संज्ञाय शस्त्रं निपातयितुम् अविषहमानो गत्वा राज्ञे आरोचिष्ट—अहं देव! उपोसथं कर्तुम् अनिच्छतां एतत्कानां नाम

(हिन्दी-अनुवाद)

इच्छुक होगा'। तब वह अमात्य विहार में जाकर भिक्षु-संघ को इकट्ठा कर बोला—"मैं राजा के द्वारा 'उपोसथ करवाओ' ऐसा कहकर भेजा गया हूँ। भन्ते! उपोसथ करो।" भिक्षुओं ने 'हम लोग तीर्थिकों के साथ उपोसथ नहीं करते हैं,'—इस प्रकार कहा। तब अमात्य ने स्थविर के आसन से लेकर (भिक्षुओं के) सिर तलवार से (काट कर) गिराना शुरू कर दिया।

तिष्य स्थविर ने उस प्रकार अनुचित कार्य करते हुए उस अमात्य को देखा। उसने उस अमात्य को उस प्रकार अनुचित (कार्य) करते देख विचारा—'राजा ने स्थविरों को मारने को नहीं भेजा होगा। निश्चय ही इस अमात्य का ही यह दुस्साहस होगा' इस प्रकार (सोच) जाकर उस (मंत्री) के पास के आसन पर बैठ गया। वह स्थविर को पहिचान कर हथियार चलाने में असमर्थ हो जाकर राजा से बोला—हे देव!

चेसि—'अहं, देव, उपोसथं कातुं अनिच्छन्तानं एत्तकानं नाम भिक्खूनं सीसानि पातेसिं, अथय्यस्स तिस्सत्थेरस्स पटिपाटि सम्पत्ता, किन्ति कारोमी' ति ? राजा सुत्वा व 'अरे किं पन त्वं मया भिक्खू घातेतुं पेसितो' ति ?

(संस्कृतच्छाया)

भिक्षूणां शिरांसि अपीपतम्, अथाऽर्यस्य तिष्यस्थविरस्य परिपाटी सम्प्राप्ता, किमिति कुर्याम्' इति। राजा श्रुत्वा एव—'अरे किं पुनस्त्वं मया भिक्षून् घातयितुं प्रेषितः' इति ?

(हिन्दी-अनुवाद)

मैंने उपोसथ करने के लिये अनिच्छुक इतने भिक्षुओं के शिर (काट कर) गिरा दिये हैं। तब आर्य तिष्य स्थविर की बारी आ गई, क्या करें ? राजा ने सुनते ही—'अरे ! क्या तू मेरे द्वारा भिक्षुओं को मारने के लिए भेजा गया था' ?

———

१६. भेद-प्रणाशः[1]

सो "यथा भो समणस्स गोतमस्स वचनं 'न सक्का वज्जी केनचि गहेतुं, अपि च उपलापनाय वा मिथुभेदेन वा सक्का' ति" आह। ततो नं राजा 'उपलापनाय अम्हाकं हत्थि-अस्सादयो नस्सन्ति, भेदेनेव ते गहेस्साम, किं करोमा' ति पुच्छि। तेन हि, महाराज, तुम्हे वज्जी आरब्भ परिसतिं कथं समुट्ठापेथ, ततो अहं—'किं ते, महाराज, तेहि, अत्तनो सन्तकेहि कसि-वाणिज्जादीनि कत्वा जीवन्तु एते राजानो' ति वत्वा पक्कमिस्सामि। ततो

(संस्कृतच्छाया)

स "यथा भोः ! श्रमणस्य गौतमस्स वचनं 'न शक्ताः व्रजिनः केनचिद् ग्रहीतुम्; अपि च उपलापनया वा मिथो भेदेन वा शक्ताः' इति" अवोचत्। ततो ननु राजा 'उपलापनया अस्माकं हस्त्यश्वादयो नश्यन्ति; भेदेनैव तान् ग्रहीष्यामः; किं कुर्मः" इति अप्राक्षीत्। तेन हि महाराज ! यूयं व्रजिनः आरभ्य परिषदि कथां समुत्थापयत। ततोऽहं 'किं ते महाराज ! तैः, आत्मनः अन्तिकैः कृषि-वाणिज्यादीनि कृत्वा जीवन्तु एते राजानः' इत्युक्त्वा प्रक्रमि-

(हिन्दी-अनुवाद)

उस (वर्षकार ब्राह्मण) ने 'श्रमण गौतम के कथनानुसार वज्जियों को किसी प्रकार (वश में लेना) सम्भव नहीं है, हाँ उपलापन (रिश्वत) या आपस की फूट से (वश में लिये जा) सकते हैं' इस प्रकार कहा। तब राजा ने उससे 'उपलापन (रिश्वत) से हमारे हाथी-घोड़े आदि नष्ट होंगे, फूट से ही उन्हें लूंगा (पकडूंगा), क्या करें' इस प्रकार पूछा। 'तो फिर महाराज ! तुम वज्जियों को लेकर परिषद् में बात उठाओ। तब मैं 'महाराज ! तुम्हारे लिए उन (पड़ोसियों) से क्या है, ये राजा अपने पास की कृषि-वाणिज्य आदि करके जियें' इस प्रकार कहकर चला जाऊँगा। तब तुम 'क्यों जी ! यह ब्राह्मण

---

१. प्रस्तुत गद्यांश सुमङ्गलविलासिनी (खण्ड २, पृ० २२२-२२४) से उद्धृत किया गया है। अजातशत्रु के शासन-काल में मगध की तीन प्रतिद्वन्द्वी शक्तियां थीं जिनमें लिच्छवि-प्रजातन्त्र (वज्जिसंघ का एक भाग) का प्रमुख स्थान था। अजातशत्रु और लिच्छवियों की सीमा पर हिमालय से व्यापारियों का कोई मार्ग आता था जिसकी चुङ्गी के लिए दोनों शक्तियों में बहुत वैमनस्य था। अन्त में अजातशत्रु ने फूट की नीति का सहारा लेकर लिच्छवियों को तबाह किया। इस पाठ का ऐतिहासिक एवं राजनीतिक दृष्टियों से पर्याप्त महत्त्व है।

तुम्हे 'किन्नु खो एस ब्राह्मणो वज्जि आरब्भ पवत्तं कथं पटिबाहती' ति वदेय्याथ, दिवसभागे चाहं तेसं पण्णाकारं पेसेस्सामि । तं पि गाहापेत्वा तुम्हे मम दोसं आरोपेत्वा बन्धनताळनादीनि अकत्वा व केवलं खुरमुण्डं मम कत्वा नगरा नीहरापेथ । अथाहं 'मया ते नगरे पाकारे च परिखा च कारिता, अहं किर दुब्बलट्ठानञ्च उत्तानगम्भीरट्ठानञ्च जानामि, न चिरस्सेव दानि तुम्हे उजुं करिस्सामी' ति वक्खामि । तं सुत्वा तुम्हे 'गच्छतू' ति वदेय्याथा ति । राजा सब्बं अकासि ।

लिच्छवी तस्स निक्खमनं सुत्वा 'सठो ब्राह्मणो, मा तस्स गङ्गं उत्तरितुं अदत्था' ति आहंसु । ततो एकच्चेहि 'अम्हे आरब्भ कथितत्ता किर सो

(संस्कृतच्छाया)

ष्यामि । ततो यूयं 'किन्नु खलु एष ब्राह्मणो 'व्रजिनम्' आरभ्य प्रवृत्तां कथां प्रतिवाहयति'' इति वदेत; दिवसभागे चाऽहं तेभ्यः पर्णाकारं प्रेषयिष्यामि । तमपि ग्राहयित्वा यूयं मम दोषम् आरोप्य बन्धनताडनादीनि अकृत्वैव केवलं क्षुरमुण्डं मम कृत्वा नगराद् निर्हारयेत । अथाहं ''मया ते नगरे प्राकारे परिखा च कारिता; अहं किल दुर्बलस्थानञ्च उत्तानगम्भीरस्थानञ्च जानामि; न चिरस्यैव (अचिरमेव) इदानीं युष्मान् ऋजु करिष्यामि'' इति वक्ष्यामि । तच्छ्रुत्वा यूयं 'गच्छतु' इति वदेत इति । राजा सर्वमकार्षीत् ।

लिच्छवयः तस्य निष्क्रमणं श्रुत्वा 'शठो ब्राह्मणः; माऽस्य गङ्गामुत्तर्तुं दात्' इत्यवोचन् । ततः एकत्यैः (एकतरैः) 'अस्मान् आरभ्य कथितत्वात् किल स एवं

(हिन्दी-अनुवाद)

वज्जियों को लेकर उठने वाली बात को रोकता है' इस प्रकार कहो, और दिन के समय मैं उनके लिए भेंट भेजूंगा । उसे भी पकड़वाकर तुम मुझ पर दोषारोपण कर बन्धन, ताड़न आदि न कर केवल छुरे से मुण्डन कराकर मुझे नगर से निकाल दो । इसके बाद मैं 'मेरे द्वारा तेरे नगर में प्राकार तथा परिखा (खाई) बनवाई गई हैं, मैं निश्चय से दुर्बल स्थान तथा उठे हुए गम्भीर स्थान को जानता हूँ । अब जल्दी ही तुम्हें सीधा कर दूँगा' इस प्रकार कहूँगा । उसको सुनकर 'चला जा' इस प्रकार कहना । राजा ने सब (वैसाही) किया ।

लिच्छवियों ने उसका निकालना सुनकर 'ब्राह्मण धूर्त है, उसे गङ्गा नहीं उतरने दो' इस प्रकार कहा । तब कुछ के द्वारा 'हमें लेकर कहने से ही उस

एवं करोती' ति वुत्ते 'तेन हि, भणे, एतू' ति भणिंसु। सो गन्त्वा लिच्छवी दिस्वा 'किं आगतत्था' ति पुच्छितो तं पवत्तिं आरोचेसि। लिच्छविनो 'अप्पमत्तकेन नाम एवं गरुं दण्डं कातुं न युत्तं'ति वत्वा 'किं ते तत्र ठानन्तरं' ति पुच्छिंसु। 'विनिच्छयामच्चोहमस्मी' ति। 'तदेव ते ठानन्तरं होतू' ति भणिंसु। सो सुट्ठुतरं विनिच्छयं करोति। राजकुमारा तस्स सन्तिके सिप्पं उग्गण्हन्ति।

सो पतिट्ठितगुणो हुत्वा एकदिवसं एकं लिच्छविं गहेत्वा एकमन्तं गन्त्वा 'केदारं कसन्ति' ति पुच्छि। 'आम कसन्ति'। 'द्वे गोणे योजेत्वा ?' ति। 'आम द्वे गोणे योजेत्वा' ति। एत्तकं वत्वा निवत्तो। ततो तं अञ्ञो 'किं आचरियो आहा'

(संस्कृतच्छाया)

करोति' इत्युक्ते 'तेन हि भणे! एतु' इत्यभाणिषुः। स गत्वा लिच्छवीन् दृष्ट्वा 'किमागतोऽत्र' इति पृष्टस्तां प्रवृत्तिम् आरोचिष्ट। लिच्छवयः 'अल्पमात्रकेन नाम एवं गुरुं दण्डं कर्त्तुं न युक्तम्' इत्युक्त्वा 'किं ते तत्र स्थानान्तरम्' इत्यप्राक्षुः। 'विनिश्चयामात्योऽहमस्मि' इति। 'तदेव ते स्थानान्तरं भवतु' इत्यभाणिषुः। स सुष्ठुतरं विनिश्चयं करोति। राजकुमाराः तस्यान्तिके शिल्पम् उद्गृह्णन्ति।

सः प्रतिष्ठितगुणो भूत्वा एकदिवसमेकं लिच्छविं गृहीत्वा एकान्तं गत्वा 'केदारं कर्षन्ति' इत्यप्राक्षीत्। 'आम् कर्षन्ति'। 'द्वौ गावौ योजयित्वा' इति ? 'आम् द्वौ गावौ योजयित्वा' इति एतत्कमुक्त्वा निवृत्तः। ततस्तमन्यः

(हिन्दी-अनुवाद)

(राजा) ने इस प्रकार किया है' इस प्रकार कहने पर 'तो फिर भणे! आओ' इस प्रकार कहा। उसने जाकर लिच्छवियों को देखकर 'यहाँ क्यों आये हो' इस प्रकार पूछे जाने पर उस (सारी) बात को कह दिया। लिच्छवियों ने 'थोड़ी-सी बात पर इस प्रकार भारी दण्ड करना (देना) ठीक नहीं' इस प्रकार कहकर 'वहाँ तुम्हारा क्या पद (था)' इस प्रकार पूछा। 'मैं विनिश्चय अमात्य था' इस प्रकार कहा। (तब वे) 'तुम्हारा वही पद हो, ऐसा बोले। वह सुन्दर प्रकार से विनिश्चय (इन्साफ) करता था। राजकुमार उसके पास शिल्प सीखते थे।

अपने गुणों से प्रतिष्ठित हो जाने पर उसने एक दिन एक लिच्छवि को एक ओर ले जाकर 'केदार (क्यारी) जोतते हैं' ऐसा पूछा। 'हां जोतते हैं।' 'दो बैल जोतकर ?' 'हाँ दो बैल जोतकर'—ऐसा कहकर लौट गया। तब उसको दूसरे ने

ति पुच्छित्वा तेन वुत्तं असद्दहन्तो 'न मे एस यथाभूतं कथेती' ति तेन सद्धिं भिज्जि। ब्राह्मणो अञ्ञं पि दिवसं एकं लिच्छविं एकमन्तं नेत्वा 'केन ब्यञ्जनेन भुत्तोसी, ति पुच्छित्वा निवत्तो। तं पि अञ्ञो पुच्छित्वा असद्दहन्तो तथेव भिज्जि।

ब्राह्मणो अपरं पि दिवसं एकं लिच्छविं एकमन्तं नेत्वा 'अतिदुग्गतोसि किरा' ति पुच्छि। 'को एवं आहा' ति। 'असुको नाम लिच्छवी' ति। अपरं पि एकमन्तं नेत्वा 'त्वं किर भीरुकजातिको' ति पुच्छि। 'को एवं आहा' ति 'असुको नाम लिच्छवी' ति। एवं अञ्ञेन अकथितमेव अञ्ञस्स कथेन्तो तीहि संवच्छरेहि ते राजानो अञ्ञमञ्ञं भिन्दित्वा यथा द्वे एकमग्गेन न गच्छन्ति

(संस्कृतच्छाया)

किमाचार्योऽवोचत्' इति पृष्ट्वा तेन उक्तमश्रद्दधन् 'न मे एष यथाभूतं कथयति' इति तेन सार्धमभैत्सीत्। ब्राह्मणोऽन्यमपि दिवसमेकं लिच्छविं एकान्तं नीत्वा 'केन व्यञ्जनेन भुक्तोऽसि' इति पृष्ट्वा निवृत्तः। तमपि अन्यः पृष्ट्वा अश्रद्दधत् तथैव अभैत्सीत्।

ब्राह्मणोऽपरमपि दिवसमेकं लिच्छविं एकान्तं नीत्वा 'अति दुर्गतोऽसि किल' इत्यप्राक्षीत्। 'कः एवमवोचत्' इति ? 'अमुको नाम लिच्छविः इति। अपरमपि एकान्तं नीत्वा 'त्वं किल भीरुकजातिकः' इत्यप्राक्षीत्। 'क एवमवोचत्' इति ? 'अमुको नाम लिच्छविः इति। एवमन्येन अकथितमेव अन्यस्य कथयन् त्रिभिः संवत्सरैस्तान् राज्ञः अन्यमन्यं भित्त्वा यथा द्वौ एकमार्गेण

(हिन्दी अनुवाद)

'आचार्थ ने क्या कहा' इस प्रकार पूछकर उसके द्वारा कही गई बात पर विश्वास नहीं कर 'यह मेरे लिए सत्य नहीं कह सकता है' ऐसा (सोचकर) उसके साथ बिगाड़ कर लिया। ब्राह्मण दूसरे दिन भी एक लिच्छवि को एक ओर ले जाकर 'किस व्यञ्जन (तरकारी) से भोजन किया' इस प्रकार पूछ कर लौट गया। उससे भी दूसरे ने पूछकर विश्वास न कर बिगाड़ कर लिया।

ब्राह्मण दूसरे दिन भी एक लिच्छवि को एक ओर ले जाकर 'बड़े गरीब हो न ?' ऐसा पूछा। 'किसने ऐसा कहा' ?' 'अमुक लिच्छवि ने'। दूसरे को भी एक ओर ले जाकर 'तुम कायर हो क्या' ? 'किसने ऐसा कहा' ? 'अमुक लिच्छवि ने'। इस प्रकार दूसरे के न कहे हुए को दूसरे से कहते हुए उसने तीन वर्षों में उन राजाओं में ऐसी फूट डाल दी कि एक मार्ग से दो नहीं जाते थे। वैसा करके जमा होने का नगाड़ा

तथा कत्वा सन्निपातभेरिं चरापेसि। लिच्छविनो 'इस्सरा सन्निपतन्तु, सूरा सन्निपतन्तू' ति वत्वा न सन्निपतिंसु। ब्राह्मणो—'अयं दानि कालो, सीघं आगच्छतू' ति रञ्ञो सासनं पेसेसि। राजा सुत्वा बल-भेरिं चरापेत्वा निक्खमि। वेसालिका सुत्वा 'रञ्ञो गङ्गं ओतरितुं न दस्सामा' ति भेरिं चरापेसुं। तं पि सुत्वा 'गच्छन्तु सूर-राजानो' ति आदीनि वत्वा न सन्निपतिंसु। 'नगरप्पवेसनं न दस्साम, द्वारानि पिदहित्वा ठस्सामा' ति भेरिं चरापेसुं। एको पि न सन्निपति। यथा विवटेहेव द्वारेहि पविसित्वा सब्बे अनयब्यसनं पापेत्वा गतो।

(संस्कृतच्छाया)

न गच्छतः तथा कृत्वा सन्निपातभेरिमचारयत्। लिच्छवयः 'ईश्वराः सन्निपतन्तु शूराः सन्निपतन्तु' इत्युक्त्वा न सन्यपप्तन्। ब्राह्मणः 'अयमिदानीं कालः शीघ्रमागच्छतु' इति राज्ञे शासनं प्रैषिषत्। राजा श्रुत्वा बलभेरिं चारयित्वा निरक्रमीत्। वैशालिका श्रुत्वा 'राज्ञे गङ्गामवतर्तुं न दास्यामः' इति भेरिमचारयन्। तमपि श्रुत्वा 'गच्छन्तु शूर-राजानः' इत्यादीनि उक्त्वा न सन्यपप्तन्। 'नगर-प्रवेशनं न दास्यामः; द्वाराणि पिधाय स्थास्यामः' इति भेरिमचारयन्। एकोऽपि न सन्यपप्तत्। यथा विवृतैरेव द्वारैः प्रविश्य सर्वान् अनयव्यसनं प्रापय्य गतः।

(हिन्दी अनुवाद)

बजवाया। लिच्छवि 'मालिक लोग जमा हों, वीर लोग जमा हों' ऐसा कहकर इकट्ठे नहीं हुए। ब्राह्मण ने 'अब यह समय है, शीघ्र आयें' इस प्रकार राजा को खबर भेजी। राजा (खबर) सुनकर सैनिक नगाड़ा बजवाकर निकला। वैशाली वालों ने सुनकर 'राजा को गङ्गा न उतरने दें' इस प्रकार नगाड़ा बजवाया। उसे भी सुनकर 'बहादुर राजा लोग जायें' इत्यादि कहकर इकट्ठे नहीं हुए। 'नगर में न घुसने दें, द्वार बन्द करके रहें' इस प्रकार नगाड़ा बजाया। एक भी इकट्ठा नहीं हुआ। (राजा अजातशत्रु) खुले ही द्वारों से घुसकर सबको तबाहकर चला गया।

———

१७. कल्याणमित्र-महिमा[1]

राजगहे किर वातकाळको पञ्ञासवस्सानि चोरघातकम्मं अकासि। अथ अमच्चा रञ्ञो आरोचेसुं—'देव, वातकाळको महल्लको चोरे घातेतुं न सक्कोती' ति। 'अपनेथ तस्मा ठानन्तरा' ति। अथ अमच्चा नं अपनेत्वा अञ्ञं तस्मिं ठाने ठपयिंसु। वातकाळकोपि याव तं कम्मं अकासि, अहत-वत्थानि वा अच्छादेतुं सुरभिपुप्फानि वा पिलन्धितुं पायासं वा भुञ्जितुं उच्छादननहापनं वा पच्चनुभोतुं नालत्थ। सो 'दीघरत्तं मे किलिट्ठवेसेन

(संस्कृतच्छाया)

राजगृहे किल वातकालकः पञ्चाशद्वर्षाणि चौरघातकर्म अकार्षीत्। अथ अमात्याः राज्ञे आरोचिषत—'देव! वातकालको महार्यकः चौरान् घातयितुं न शक्नोति' इति। 'अपनयत तस्मात् स्थानान्तरात्' इति। अथ अमात्याः तमपनीय अन्यं तस्मिन् स्थाने अतिष्ठिपन्। वातकालकोऽपि यावत् तत् कर्म अकार्षीत्; अहतवस्त्राणि वा आच्छादयितुं सुरभिपुष्पाणि वा अपिनद्धुं पायसं वा भोक्तुं उच्छादनस्नापनं वा प्रत्यनुभक्तुं नालभत। सः

(हिन्दी-अनुवाद)

राजगृह में वातकालक पचास वर्षों से चोरों को मारने का काम करता था। इसके बाद (अमात्यों ने) राजा से कहा—'देव! बूढ़ा वातकालक चोरों को मारने में समर्थ नहीं है।' '(तो) उस पद से (उसको) हटा दो।' अमात्यों ने उसको हटाकर दूसरे व्यक्ति को उस पद पर नियुक्त कर दिया। वातकालक ने भी जब तक उस काम को किया (तबतक) विना फटे कपड़े पहिनने के लिए, सुगन्धित फूल धारण करने के लिए, खीर खाने के लिए तथा मालिश और स्नान का आनन्द लेने के लिए अवसर नहीं पाया। 'बहुत समय से मैं मैले वेश में भटका हूँ, मेरे लिए खीर बनाओ' इस

---

१. प्रस्तुत गद्यांश मनोरथपूरणी (खण्ड २, पृ० २१७-२१८) से उद्धृत किया गया है। बौद्ध धर्म में कल्याणमित्र (सच्चे मित्र) का अत्यधिक महत्त्व है। कल्याण मित्र के सम्पर्क से बड़े से बड़ा दुष्कर्मी भी कैसे सुधर जाता है—यही इस पाठ का सार है।

चरितं'ति 'पायासं मे पचाही' ति भरियं आणापेत्वा नहानियसम्भारानि गाहापेत्वा नहानतित्थं गन्त्वा सीसं नहात्वा अहतवत्थानि अच्छादेत्वा गन्धे विलिम्पित्वा पुप्फानि पिलन्धित्वा घरं आगच्छन्तो सारिपुत्तत्थेरं दिस्वा 'सङ्किलिट्ठकम्मन्तो चम्हि अपगतो, अय्यो च मे दिट्ठो'ति तुट्ठमानसो थेरं घरं नेत्वा नवसप्पिसक्खरचुण्णाभिसङ्खतेन पायासेन परिविसि। थेरो तस्स अनुमोदनं अकासि। सो अनुमोदनं सुत्वा अनुलोमिकं खन्ति पटिलभित्वा थेरं अनुगन्त्वा निवत्तमानो अन्तरामग्गे तरुणवच्छाय गाविया मद्दित्वा जीवितक्खयं पापितो गन्त्वा तावतिंसभवने निब्बत्ति।

भिक्खू तथागतं पुच्छिसु—'भन्ते, चोरघातको अज्जेव किलिट्ठकम्मतो

(संस्कृतच्छाया)

'दीर्घरात्रं मया क्लिष्टवेशेण चरितम्' इति 'पायसं मे पच' इति भार्यामाज्ञाप्य स्नानीयसम्भारान् ग्राहयित्वा स्नानतीर्थं गत्वा शिरसा स्नात्वा अहतवस्त्राणि आच्छाद्य गन्धान् विलिप्य पुष्पाणि पिनह्य गृहमागच्छन् शारिपुत्रस्थविरं दृष्ट्वा 'संक्लिष्टकर्मान्तः चास्मि अपगतः; आर्यश्च मया दृष्टः' इति तुष्टमानसः स्थविरं गृहं नीत्वा नवसर्पिश्शर्कराचूर्णाभिसंस्कृतेन पायसेन पर्यविक्षत्। स्थविरः तस्याऽनुमोदनमकार्षीत्। सोऽनुमोदनं श्रुत्वा आनुलोमिकां क्षान्तिं प्रतिलभ्य स्थविरमनुगम्य निवर्तमानोऽन्तरामार्गं तरुणवत्सेन गवा मर्दित्वा जीवितक्षयं प्रापितो गत्वा त्रायस्त्रिंशभवने न्यवृतत।

भिक्षवः तथागतमप्राक्षुः—'भदन्त ! चौरघातकोऽद्यैव क्लिष्टकर्मतोऽपनीतः;

(हिन्दी-अनुवाद)

प्रकार स्त्री को आज्ञा देकर स्नान सामग्री को लुवाकर स्नान घाट पर जा सिर से नहा, बिना फटे कपड़े पहिन, सुगन्धित पदार्थ का लेप कर, फूलों को धारण कर घर आते हुए उसने सारिपुत्र स्थविर को देखकर 'कलुषित कर्म से मैं दूर हो गया हूँ, और मेरे लिए आर्य दिखे हैं' इस प्रकार (सोच) प्रसन्न (मनवाला) होकर स्थविर को घर ले जाकर नवीन घी शक्कर-चूर्ण आदि से बनाई हुई खीर परोसी। स्थविर ने उसका अनुमोदन (भोजन के बाद का आशीर्वाद-वचन) किया। वह आशीर्वाद-वचन सुनकर स्वाभाविक रूपसे क्षमा-भाव को प्राप्त कर स्थविर का अनुकरण कर लौटते हुए बीच रास्ते में गाय के तरुण बछड़े (नटवे) के द्वारा कुचलकर मारा जाकर त्रायस्त्रिंश भवन (स्वर्ग) में उत्पन्न हुआ।

भिक्षुओं ने तथागत से पूछा—भन्ते चोरघातक आज ही कलुषित कर्म से

अपनीतो, अज्जेव कालकतो, कहं नु खो निब्बत्तो' ति। 'तावतिंस भवने, भिक्खवे' ति। 'भन्ते, चोरघातको दीघरत्तं पुरिसे घातेसि, तुम्हे च एवं वदेथ, नत्थि नु खो पापकम्मस्स फलं' ति? 'भिक्खवे, मा एवं अवचुत्थ। बलव-कल्याणमित्तूपनिस्सयं लभित्वा धम्मसेनापतिस्स पिण्डपातं दत्वा अनुमोदनं सुत्वा अनुलोमिकं खन्ति पटिलभित्वा सो तत्थ निब्बत्तो' ति।

सुभासितं सुणित्वान नागरियो चोरघातको।
अनुलोमिखन्ति लद्धान मोदती तिदिवङ्गतो॥

(संस्कृतच्छाया)

अद्यैव कालकृतः; कुत्र नु खलु निवृत्तः' इति। 'त्रयस्त्रिंशभवने भिक्षवः' इति। 'भदन्त ! चौरघातको दीर्घरात्रं पुरुषान् अजीघतत्, यूयं च एवं वदेत, नास्ति नु खलु पापकर्मणः फलम्' इति। 'भिक्षवः ! मा एवं वोचत्। बलवत्कल्याणमित्रोपनिश्रयं लब्ध्वा धर्मसेनापतये पिण्डपातं दत्त्वा अनुमोदनं श्रुत्वा आनुलोमिकां क्षान्ति प्रतिलभ्य स तत्र निवृत्तः' इति।

सुभाषितं श्रुत्वा नागरिकः चौरघातकः।
अनुलोमक्षान्ति लब्ध्वा मोदते त्रिदिवङ्गतः॥

(हिन्दी-अनुवाद)

मुक्त हुआ है, आज ही मरा है, कहाँ उत्पन्न हुआ है। हे भिक्षुओ ! त्रायस्त्रिंश भवन में। भन्ते ! चोरघातक ने बहुत समय तक पुरुषों को मारा है और आप इस प्रकार कहते हैं, क्या पाप कर्म का फल नहीं है ? भिक्षुओ ! ऐसा मत कहो। बलशाली कल्याण मित्र का सहारा पा धर्मसेनापति को भोजन दे अनुमोदन (आशीर्वाद) सुन स्वाभाविक क्षमा-भाव को प्राप्त वह वहाँ उत्पन्न हुआ है।

सुभाषित को सुनकर नागरिक चौरघातक स्वाभाविक क्षमा-भाव को पाकर स्वर्ग में जाकर आनन्द लेता है।

———

१८. आसक्ति-व्यसनम्[1]

सा किर विसाखा पुत्तस्स धीतरं दत्तानामकुमारिकं अत्तनो ठाने ठपेत्वा गेहे भिक्खुसङ्घस्स वेय्यावच्चं कारेसि। सा अपरेन समयेन कालं अकासि। सा तस्सा सरीरनिक्खेपं कारेत्वा सोकं सन्धारेतुं असक्कोन्ती दुक्खी दुम्मना सत्थु सन्तिकं गन्त्वा वन्दित्वा एकमन्तं निसीदि। अथ नं सत्था 'किन्नु खो त्वं विसाखे! दुक्खी दुम्मना अस्सुमुखा रुदमाना निसिन्ना' ति आह। सा तमत्थं आरोचेत्वा 'पिया मे भन्ते! कुमारिका वत्तसम्पन्ना इदानि तथारूपं न पस्सामी'

(संस्कृतच्छाया)

सा किल विशाखा पुत्रस्य दुहितरं दत्ता-नाम-कुमारिकामात्मनः स्थाने स्थापयित्वा गृहे भिक्षुसङ्घस्य वैयावृत्यमचीकरत्। सा अपरस्मिन् समये कालमकार्षीत्। सा तस्याः शरीरनिक्षेपं कारयित्वा शोकं सन्धारयितुमशक्नुवती दुःखिनी दुर्मना शास्तुरन्तिकं गत्वा वन्दित्वा एकान्तं न्यसीदत्। अथ तां शास्ता 'किं नु खलु त्वं विशाखे! दुःखिनी दुर्मना अश्रुमुखा रुदती निषण्णा'। सा तमर्थमारोच्य "प्रिया मे भदन्त! कुमारिका व्रतसम्पन्ना; इदानीं तथारूपां

(हिन्दी-अनुवाद)

वह विशाखा पुत्र की लड़की दत्ता नाम की कुमारी को अपने स्थान पर रख घर में भिक्षु-संघ की सेवा कराती थी। वह दूसरे (किसी) समय मर गई। वह उसके शरीर को फिकवाकर शोक को धारण करने में असमर्थ होती हुई दुःखी उदास हो शास्ता के पास जा, वन्दना कर एक ओर बैठ गई। तब शास्ता ने पूछा—'विशाखे। तुम क्यों दुःखी, उदास, अश्रुःयुक्त मुखवाली, रोती हुई बैठी हो'? वह उस बात को बतलाकर बोली—'हे भन्ते! व्रत से सम्पन्न कुमारी मेरे लिए प्रिय थी, अब उस रूप

---

१. प्रस्तुत गद्यांश धम्मपदट्ठकथा (खण्ड ३, पृ० २७८-२७९) से उद्धृत किया गया है। विशाखा अंगदेश के भद्दिया नगरवासी धनञ्जय श्रेष्ठी की पुत्री थी। इसका विवाह मृगार श्रेष्ठी के पुत्र पूर्णवर्द्धन से हुआ था। बुद्ध के धर्म में अत्यन्त अनुरक्त विशाखा ने अपने ससुर को बुद्ध का अनुयायी बनाया जिससे ससुर ने उस (बहू), को माता के स्थान पर प्रतिष्ठित किया। तब से वह मृगारमाता कहलाने लगी। उसने नौ करोड़ मूल्य के बने महालता प्रसाधन को बेंचकर भिक्षु-संघ के लिए पूर्वाराम नामक विहार बनवाया। अपनी नातिन के शोक से विक्षिप्त विशाखा को भगवान् बुद्ध के उपदेश से सान्त्वना मिली।

ति आह। 'कित्तका पन विसाखे सावत्थियं मनुस्सा' ति? 'भन्ते! तुम्हेहि येव कथितं सत्तजनकोटियो' ति। 'सचे पनायं एत्तको जनो तव दत्ताय सदिसो भवेय्य इच्छेय्यासि नं' ति। 'आम भन्ते' ति। 'कति पन जना सावत्थियं देवसिकं कालं करोन्ती' ति? 'बहू भन्ते' ति। 'ननु एवं सन्ते तव असोचन-कालो न भवेय्य, रत्तिदिवं रोदन्ती परिदेवन्ती येव विचरेय्यासी' ति। 'होतु, भन्ते, ञातं मया' ति। अथ नं सत्था 'तेन हि मा सोचि, सोको हि वा भयं वा पेमतो जायतो' ति इमं गाथमाह—

पेमतो जायती सोको पेमतो जायती भयं।
पियतो विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं॥

(संस्कृतच्छाया)

न पश्यामि' इत्याह। "कियत्काः पुनः विशाखे! श्रावस्त्यां मनुष्याः" इति। 'भदन्त! युष्माभिरेव कथितं सप्तजनकोटयः' इति। 'चेत् पुनरयमेतत्को जनः तव दत्तया सदृशो भवेत्, इच्छेः तम्' इति? 'आम् भदन्त!' इति। 'कति पुनः जनाः श्रावस्त्यां दैवसिकं कालं कुर्वन्ति' इति? 'बहवो भदन्त!' इति। 'ननु एवं सति तवाऽशोचनकालो न भवेत्, रात्रिन्दिवं रुदती परिदीव्यन्ती एव विचरेः' इति। 'भवतु, भदन्त! ज्ञातं मया' इति। अथ तां शास्ता 'तेन हि मा शोचीः, शोको हि वा भयं वा प्रेमतो जायते' इतीमां गाथामवोचत्—

प्रेमतो जायते शोकः प्रेमतो जायते भयम्।
प्रियतो विप्रमुक्तस्य नास्ति शोकः कुतो भयम्॥

(हिन्दी-अनुवाद)

को (मैं) नहीं देखती हूँ। 'विशाखे! श्रावस्ती में कितने मनुष्य हैं'? 'हे भन्ते! तुम्हीं ने कहा था (कि) सात करोड़। 'अगर ये इतने मनुष्य तुम्हारी दत्ता के समान हो जायें तो (यह) चाहोगी'? 'हाँ भन्ते'! 'श्रावस्ती में कितने मनुष्य प्रति दिन मरते हैं'? भन्ते! बहुत से'। 'तो इस प्रकार होने पर तुम्हारा शोक-रहित समय (ही) न होगा। रात-दिन रोती चिल्लाती ही घूमोगी'। रहने दें भन्ते! मेरे द्वारा जान लिया गया। तब भगवान् ने उसको 'तो फिर शोक मत करो, शोक या भय प्रेम से होता है इस प्रकार (कह) यह गाथा कही—

प्रेम से शोक होता है, प्रेम से भय होता है। प्रिय से रहित व्यक्ति के लिए शोक नहीं है, भय (की बात ही) कहाँ।

१६. कलङ्क-मोचनम्

सो विडूडभो सोळसवस्सकाले 'अम्म ! तव मातामहकुलं पस्सितुकामोम्ही' ति वत्वा, 'अलं तात ! किं तत्थ करिस्सती' ति वारियमानो पि पुनप्पुन याचि। अथस्स माता 'तेन हि गच्छा' ति सम्पटिच्छि। सो पितु आरोचेत्वा महन्तेन परिवारेन निक्खमि। वासभखत्तिया पुरेतरं पण्णं पेसेसि—'अहं इध सुखं वसामि, मास्स किञ्चि सामिनो अन्तरं दस्सयिंसू' ति याचि। साकिया विडूडभस्स आगमनं ञत्वा 'वन्दितुं न सक्का' ति तस्स दहरतरे जनपदं

(संस्कृतच्छाया)

स विडूडभः षोडशवर्षकाले 'अम्ब ! तव मातामहकुलं द्रष्टुकामोऽस्मि' इत्युक्त्वा 'अलं तात ! किं तत्र करिष्यति' इति वार्यमाणोऽपि पुनः पुनः अयाचीत्। अथाऽस्य माता 'तेन हि गच्छ' इति सम्प्रत्यैषीत्। स पितरमारोच्य महता परिवारेण निरक्रमीत्। वासभक्षत्रिया पुरस्तरं पर्णं प्रैषिषत्—'अहमिह सुखं वसामि, मा अस्य किञ्चित् स्वामिनोऽन्तरं दीदृशन्' इत्ययाचीत्। शाक्याः विडूडभस्याऽऽगमनं ज्ञात्वा 'वन्दितुं न शक्ताः' इति तस्य दहरतरान् जनपदं

(हिन्दी-अनुवाद)

उस विडूडभ ने सोलह वर्ष की अवस्था में 'मां ! तुम्हारे नानाकुल को देखना चाहता हूँ' इस प्रकार कहकर 'तात ! बस करो 'तुम वहाँ क्या करोगे' इस प्रकार रोके जाने पर भी बारम्बार प्रार्थना की। तब उसकी माँ ने 'तो जाओ' इस प्रकार स्वीकृति दे दी। वह पिता से कहकर बड़े लोग-बाग के साथ निकला। वासभखत्तिया ने उससे पहले (शाक्यों को) एक पत्र भेज दिया (जिसमें) 'मैं यहाँ सुख से रहती हूँ, स्वामी लोग इसके लिए कोई अन्तर (फर्क) न दिखायें' इस प्रकार विनती की। शाक्य लोग विडूडभ के आगमन को जानकर '(इसे शाक्य) नमस्कार करने के लिए

---

१. प्रस्तुत गद्यांश धम्मपदट्ठकथा (खण्ड १, भाग २ पृ० ३४७-३४८ तथा ३५७-३५:) से उद्धृत किया गया है। राजा प्रसेनजित् ने भिक्षुसंघ से समीपता स्थापित करने के लिए शाक्यों से विवाह के लिए एक कन्या माँगी। शाक्यों ने अपने समान श्रेष्ठकुल का न होने से प्रसेनजित् को दासीकन्या वासभखत्तिया शाक्यकन्या कहकर दे दी। इसी वासभखत्तिया को विडूडभ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। सोलह वर्ष की अवस्था में जब विडूडभ को अपनी वास्तविक स्थिति का बोध हुआ तो उसने शाक्यों से बदला लेने की ठानी। राज्यप्राप्ति के अनन्तर उसने शाक्यों का विनाश किया तथा विनाशकर लौटते समय वह सेना सहित अचिरवती नदी की बाढ़ में डूब कर मर गया। यह पाठ ऐतिहासिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

पहिणित्वा तस्मिं कपिलपुरं सम्पत्ते सन्थागारे सन्निपतिंसु। कुमारो तत्थ गन्त्वा अट्ठासि। अथ नं 'अयं ते तात! मातामहो, अयं मातुलो' ति वन्दापेसुं। सो सब्बे वन्दमानो विचरित्वा एकं पि अत्तानं वन्दन्तं अदिस्वा, 'किं नु खो मं वन्दन्ता नत्थी' ति पुच्छि। साकिया 'कनिट्ठकुमारा ते जनपदं गता' ति तस्स महन्तं सक्कारं करिंसु। सो कतिपाहं वसित्वा महन्तेन परिवारेन निक्खमि। अथेका दासी सन्थागारे तेन निसिन्नं फलकं 'इदं वासभखत्तियादासिया पुत्तस्स निसिन्नफलकं' ति अक्कोसित्वा खीरोदकेन धोवति। एको पुरिसो आवुधं पम्मुस्सित्वा निवत्तो तं गण्हन्तो विडूडभकुमारस्स अक्कोसनसद्दं सुत्वा

(संस्कृतच्छाया)

प्रेष्य तस्मिन् कपिलपुरं सम्प्राप्ते संस्थागारे सन्यपप्तन्। कुमारः तत्र गत्वा अस्थात्। अथ तम् 'अयं ते तात! मातामहः; अयं मातुलः' इत्यववन्दन्। स सर्वान् वन्दमानो विचर्य एकमपि आत्मानं वन्दमानमदृष्ट्वा 'किं नु खलु मां वन्दमाना नास्ति (न सन्ति)' इत्यप्राक्षीत्। शाक्याः 'कनिष्ठकुमाराः ते जनपदं गताः' इति तस्य महान्तं सत्कारमकार्षुः। स कतिपयाहम् उषित्वा महता परिवारेण निरक्रमीत्। अथैका दासी संस्थागारे तेन निषण्णं फलकं 'इदं वासभ-क्षत्रियादास्याः पुत्रस्य निषण्णफलकम्' इत्याक्रोश्य क्षीरोदकेन धावति। एकः पुरुषः आयुधं प्रमृश्य निवृत्तः तं गृह्णन् विडूडभकुमारस्याऽक्रोशनशब्दं श्रुत्वा

(हिन्दी-अनुवाद)

समर्थ नहीं हैं' इस प्रकार (सोचकर विडूडभ से) छोटी उमर के बालकों को देहात भेजकर उसके कपिलपुर पहुँचने पर संस्थागार (प्रजातन्त्र-परिषद्-भवन) में इकट्ठे हुए। कुमार वहाँ पहुँचकर खड़ा हो गया। इसके बाद उसको 'हे तात! ये तुम्हारे नाना (हैं) ये तुम्हारे मामा (हैं) इस प्रकार (कहकर) वन्दना करायी। उसने उन सबको वन्दना करते हुए घूमकर एक को भी अपनी वन्दना करते न देख 'क्या मुझे वन्दना करने वाले नहीं हैं' इस प्रकार पूछा। शाक्यों ने '(तुमसे) छोटे कुमार देहात गये हुए हैं' इस प्रकार (कह) उसका बहुत सत्कार किया। वह कुछ दिन रहकर बड़े लोग-बाग के साथ निकला। तब एक दासी संस्थागार में उसके बैठने के फलक (चौकी) को 'यह वासभखत्तिया दासी के पुत्र के बैठने का फलक है' इस प्रकार निन्दाकर दूध पानी से धो रही थी। एक आदमी (अपना) हथियार भूल (गया था उसे लेने के लिए) लौटा। उसे लेते समय विडूडभ कुमार के निन्दा-शब्द को सुनकर

तं अन्तरं पुच्छित्वा 'वासभखत्तियादासिया कुच्छिस्मिं महानामसक्कस्स जाता' ति ञत्वा बलकायस्स कथेसि—'वासभखत्तिया किर दासिधीता' ति महाकोलाहलं अहोसि। तं सुत्वा 'एते ताव मम निसिन्नफलकं खीरोदकेन धोवन्ति, अहं पन रज्जे पतिट्ठितकाले एतेसं गललोहितं गहेत्वा मम फलकं धोवापेस्सामी' ति चित्तं ठपेसि।

विडूडभो रज्जं लभित्वा तं वेरं सरित्वा 'सब्बे पि साकिये मारेस्सामी' ति महतिया सेनाय निक्खमि। सो ततो निक्खमित्वा 'ये ये भणे! साकियम्हा' ति भणन्ति सब्बे मारेथ, मातामहस्स पन मे महानामसक्कस्स सन्तिके ठितानं जीवितं देथा' ति आह। साकिया गहेतब्बगहणमपस्सन्ता एकच्चे तिणं डसित्वा

(संस्कृतच्छाया)

तदन्त्रं पृष्ट्वा 'वासभक्षत्रियादास्याः कुक्षौ महानाम-शाक्यस्य जाता' इति ज्ञात्वा बलकायमचीकथत्—'वासभक्षत्रिया किल दासीदुहिता' इति महाकोलाहलोऽभूत्। तं श्रुत्वा 'एते तावद् मम निषण्णफलकं क्षीरोदकेन धावन्ति; अहं पुनः राज्ये प्रतिष्ठितकाले एतेषां गललोहितं गृहीत्वा मम फलकं धावयिष्यामि' इति चित्त-मतिष्ठिपत्।

विडूडभो राज्यं लब्ध्वा तद् वैरं स्मृत्वा 'सर्वान् अपि शाक्यान् मार-यिष्यामि' इति महत्या सेनया निरक्रमीत्। स ततो निष्क्रम्य 'ये ये भणे! शाक्याः स्मः' इति भणन्ति सर्वान् मारयत; मातामहस्य पुनः मे महानाम-शाक्यस्याऽन्तिके स्थितानां जीवितं दत्त' इति अवोचत्। शाक्याः ग्रहीतव्य-

(हिन्दी-अनुवाद)

उस गुप्त (बात) को पूछकर 'वासभखत्तिया दासी की कोख में महानाम शाक्य से पैदा हुई' इस प्रकार जानकर सेना में कह दिया। 'वासभखत्तिया दासी की पुत्री है' इस प्रकार भारी हल्ला हुआ। उसे सुन 'ये तो मेरे बैठने के फलक को दूध-पानी से धोते हैं, लेकिन मैं राजगद्दी पाने पर अपना फलक इनके गले के रक्त से धुलवाऊँगा'। इस प्रकार चित्त में ठान ली।

विडूडभ राज्य पा उस वैर का स्मरण कर 'सभी शाक्यों को मारूँगा' इस प्रकार (सोच) भारी सेना के साथ निकला। उसने निकल कर ''हे भणे! जो जो '(हम) शाक्य हैं' इस प्रकार कहते हैं (उन) सभी को मारो, लेकिन मेरे नाना महानाम शाक्य के पास खड़े लोगों के लिए जीवन-दान दो'' इस प्रकार कहा। शाक्य लोग (बचाव के लिए)

एकच्चे नळं गहेत्वा अट्ठंसु। 'तुम्हे साकिया नो' ति पुच्छिते तिणं डसित्वा ठिता, 'नो साको तिणं' ति वदन्ति, नळं गहेत्वा ठिता 'नो साको नळो' ति वदन्ति। ते च महानामस्स सन्तिके ठिता जीवितं लभिंसु। अवसेसे खीरपायके पि दारके अविस्सज्जेत्वा घातापेन्तो लोहितनदिं पवत्तेत्वा तेसं गललोहितेन फलकं धोवापेसि।

(संस्कृतच्छाया)

ग्रहणमपश्यन्तः एकत्ये (एकतरे) तृणं दष्ट्वा, एकत्ये (एकतरे) नलं गृहीत्वा अस्थुः। 'यूयं शाक्या नो' इति पृष्टे तृणं दष्ट्वा स्थिताः 'नो शाकस्तृणम्' इति वदन्ति, नलं गृहीत्वा स्थिताः 'नो शाको नलम्' इति वदन्ति। ते च महानाम्नोऽन्तिके स्थिताः जीवितमलप्सत। अवशेषे क्षीरोदकपायकानपि दारकानविसृज्य घातयन् लोहितनदीं प्रवर्त्य तेषां गललोहितेन फलकमदीधवत्।

(हिन्दी-अनुवाद)

ग्रहण करने योग्य (स्थान) को न देखते हुए (किं कर्तव्य विमूढ़ होते हुए) कुछ तृण को (मुख में) दबाकर, कुछ नल (नर्कट) पकड़ कर खड़े हो गये। 'तुम शाक्य हो' इस प्रकार पूछने पर तृण दबाकर खड़े हुए (आदमी) 'शाक नहीं तृण' इस प्रकार बोले, नल को पकड़कर खड़े (आदमी) 'शाक नहीं नल' इस प्रकार बोले। वे लोग तथा महानाम के पास खड़े लोग जान बचा सके। शेष दूध पीने वाले भी बच्चों को विना छोड़े सभी को मरवाता हुआ खून की नदी को बहवा कर (विडूडभ ने) उनके गले के खून से (अपना) फलक धुलवाया।

———

२०. मार-निग्रहः[1]

सो देवमनुस्सेसु संसरन्तो इमस्मिं बुद्धुप्पादे मगधरट्ठे ब्राह्मणकुले निब्बत्तित्वा 'साटिमत्तिको' ति लद्धनामो वयप्पत्तो आरञ्ञक-भिक्खूनं सन्तिके पब्बजित्वा विपस्सनाय कम्मं करोन्तो छळभिञ्ञो अहोसि। छळभिञ्ञो पन हुत्वा भिक्खू ओवदति, अनुसासति, बहू च सत्ते धम्मं देसेत्वा सरणेसु च सीलेसु च पतिट्ठापेसि। अञ्ञतरञ्च कुलं अस्सद्धं अप्पसन्नं सद्धं पसन्नं अकासि।

(संस्कृतच्छाया)

स देवमनुष्येषु संसरन् अस्मिन् बुद्धोत्पादे मगधराष्ट्रे ब्राह्मणकुले निर्वृत्य 'शाटिमात्रिकः' इति लब्धनामा वयःप्राप्तः आरण्यकभिक्षूणामन्तिके प्रव्रज्य विपश्यनया कर्म कुर्वन् षडभिज्ञोऽभूत्। षडभिज्ञः पुनर्भूत्वा भिक्षून् अववदति, अनुशास्ति, बहूनि च सत्त्वानि धर्मं देशयित्वा (दिष्ट्वा) शरणेषु च शीलेषु च प्रातिष्ठिपत्। अन्यतरच्च कुलमश्रद्धमप्रसन्नं श्रद्धं प्रसन्नमकार्षीत्। तेन तस्मिन् कुले मनुष्याः स्थविरेऽभिप्रसन्ना अभूवन्। तत्रैका दारका

(हिन्दी-अनुवाद)

यह देव-मनुष्यों में उत्पन्न होता हुआ इस बुद्ध-काल में मगधराष्ट्र के ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न होकर साटिमत्तिक—इस नाम को प्राप्तकर बड़ा होकर आरण्यक-भिक्षुओं के पास प्रव्रजित हो अन्तर्ज्ञान के लिए काम करता हुआ षडभिज्ञ हो गया। षडभिज्ञ होकर भिक्षुओं को उपदेश देता था; आदेश देता था तथा बहुत-से प्राणियों को धर्म का उपदेश देकर शरणों एवं शीलों में ठीक से लगाता था। श्रद्धाहीन एवं अप्रसन्न दूसरे

---

१. प्रस्तुत गद्यांश परमत्थदीपिनी (थेरगाथा अट्ठकथा खण्ड २, पृ० ९९-१००) से उद्धृत किया गया है। पालि साहित्य में मार शब्द का प्रयोग दुष्टात्मा, मृत्यु, सद्धर्म का विरोधी आदि अनेक अर्थों में हुआ है। मार का व्यक्तित्व भी इच्छानुसार शरीर धारण करना, विविध अस्त्र-शस्त्रों से युक्त एक हजार हाथ होना तथा भयानक एवं हृदय विदारक उद्घोष करने वाले गिरि मेखला नामक हाथी पर विचरण करना आदि विविध रूपों में उपलब्ध होता है। मार की तृष्णा, अरति एवं रागा नामक तीन कन्याएं एवं काम, अरति तृष्णा, दंभ आदि सैनिक हैं। शुभ कार्यों का विरोध करना उसका काम है। वस्तुतः मार कोई बाह्य प्राणी नहीं है, अपितु मन के अकुशल भावों का प्रतीकमात्र है। प्रस्तुत पाठ में मार अकुशल भावों से युक्त प्राणी को व्यक्त करता है।

तेन तस्मिं कुले मनुस्सा थेरे अभिप्पसन्ना अहेसुं। तत्थेका दारिका अभिरूपा दस्सनीया थेरं पिण्डाय पविट्ठं सक्कच्चं भोजनेन परिविसति।

अथेकदिवसं मारो 'एवं इमस्स अयसो वड्ढिस्सति अप्पतिट्ठो भविस्सती' ति चिन्तेत्वा थेरस्स रूपेन गन्त्वा तं दारिकं हत्थे अग्गहेसि। दारिका 'नायं मनुस्ससम्फस्सो' ति च अञ्ञासि, हत्थञ्च मुञ्चापेसि। तं दिस्वा घरजनो थेरे अप्पसादं जनेसि। पुनदिवसे थेरो तं कारणं अनावज्जेन्तो तं घरं अगमासि। तत्थ मनुस्सा अनादरं अकंसु। थेरो तं कारणं आवज्जेन्तो मारस्स किरियं दिस्वा, 'तस्स गीवायं कुक्कुरकुणपं पटिमुञ्चतू'ति अधिट्ठहित्वा तस्स

(संस्कृतच्छाया)

अभिरूपा दर्शनीया स्थविरं पिण्डाय प्रविष्टं सत्कृत्य भोजनेन परिवेषयति।

अथैकदिवसं मारः एवमस्याऽयशो वर्द्धिष्यते, अप्रतिष्ठो भविष्यति' इति चिन्तयित्वा स्थविरस्य रूपेण गत्वा तां दारिकां हस्तेऽग्रहीत्। दारिका 'नायं मनुष्यसंस्पर्शः' इति च अज्ञासीत्; हस्तञ्च अमूमुचत्। तं दृष्ट्वा गृहजनः स्थविरेऽप्रसादमजीजनत्। पुनः दिवसे स्थविरः तत्कारणमनावर्जयन् तद् गृहमगमत्। तत्र मनुष्याः अनादरमकार्षुः। स्थविरः तत् कारणमावर्जयन् मारस्य क्रियां दृष्ट्वा 'तस्य ग्रीवायां कुक्कुरकुणपं प्रतिमुञ्चतु' इत्यधिष्ठाय

(हिन्दी-अनुवाद)

कुल को श्रद्धायुक्त एवं प्रसन्न करता था। उससे उस कुल में मनुष्य स्थविर में अत्यधिक प्रसन्न थे। वहां एक सुन्दर और दर्शनीय लड़की भिक्षा के लिए आये स्थविर को सत्कार कर भोजन परोसती थी (देती थी)।

तदनन्तर एक दिन मार 'इस प्रकार इसका अयश बढ़ेगा, अप्रतिष्ठा होगी'— इस प्रकार विचारकर स्थविर के भेष में जा उस लड़की को हाथ में पकड़ लिया। लड़की ने 'वह मनुष्य का स्पर्श नहीं है' इस प्रकार जान लिया और हाथ छुड़ा लिया। उसे देखकर घर के मनुष्यों में स्थविर में अप्रसन्नता उत्पन्न हुई। दूसरे दिन स्थविर उस कारण का ख्याल किये विना उस घर में गये। वहाँ मनुष्यों ने अनादर किया। स्थविर उस कारण का ख्याल करते हुए मार का कार्य देखकर 'उसकी ग्रीवा में कुत्ते का शव लग जाये' इस प्रकार का संकल्प कर उस (कुत्ते के शव) को छुड़वाने के लिए आये हुए मार से पिछले दिन की गई

मोचनत्थं उपगतेन मारेन अतीतदिवसे कतकिरियं कथापेत्वा, तं तज्जेत्वा विस्सज्जेसि। तं दिस्वा घरसमिको 'खमथ, भन्ते, अच्चयं' ति खमापेत्वा 'अज्जतग्गे अहमेव, भन्ते, तुम्हे उपट्ठहामी' ति आह

(संस्कृतच्छाया)

तस्य मोचनार्थमागतेन मारेण अतीतदिवसे कृतक्रियां कथयित्वा तं तर्जित्वा व्यस्राक्षीत्। तं दृष्ट्वा गृहस्वामिकः 'क्षमध्वम्' भदन्त! अत्ययम्' इति क्षमयित्वा अद्यतोऽग्रे अहमेव भदन्त! युष्मान् (त्वां) उपस्थापयामि' इत्यवोचत्।

(हिन्दी-अनुवाद)

क्रिया को कहलवाकर उसको फटकार कर छोड़ दिया। उसे देख घर के स्वामी ने 'भन्ते! बीती (बात) को क्षमा कर दें—इस प्रकार क्षमा कराकर' आज से आगे मैं ही भन्ते! तुम्हारी सेवा करूँगा'—इस प्रकार कहा।

———

२१. सौन्दर्यगर्वगलनम्[1]

अयं अभिरूपनन्दा इमस्मिं बुद्धुप्पादे कपिलवत्थुनगरे खेमकस्स सक्कस्स अग्गमहेसिया कुच्छिस्मिं निब्बत्ति ! 'नन्दा' तिस्सा नामं अहोसि। सा अत्त-भावस्स अतिविय रूपसोभग्गप्पत्तिया अभिरूपा दस्सनीया पासादिका। अभि-रूपनन्दा नाम त्वेव पञ्ञायित्थ। तस्सा वयप्पत्ताय धरेय्यदिवसे येव चरभूतो साक्यकुमारो कालं अकासि। अथ नं मातापितरो अकामं पब्बाजेसुं। सा पब्बाजित्वा पि रूपं निस्साय उप्पन्नमदा। सत्था रूपं विवण्णेति गरहति अनेक-

(संस्कृतच्छाया)

इयमभिरूपनन्दा अस्मिन् बुद्धोत्पादे कपिलवस्तुनगरे क्षेमकस्य शाक्यस्य अग्रमहिष्याः कुक्षौ न्यवर्तिष्ट। 'नन्दा' इत्यस्याः नाम अभूत्। सा आत्म-भावस्य अतीव रूपसौभाग्योत्पत्त्या अभिरूपा दर्शनीया प्रासादिका। अभिरूप-नन्दा नाम त्वेव प्राज्ञायि। तस्या वयःप्राप्तायाः धार्यदिवसे एव चरभूतः शाक्य-कुमारः कालमकर्षीत्। अथ तां मातापितरौ अकामां प्राव्रजताम्। सा प्रव्राज्याऽपि रूपं निश्रित्य उत्पन्नमदा। शास्ता रूपं विवर्णयति, गर्हति,

(हिन्दी-अनुवाद)

यह अभिरूपनन्दा इस बुद्ध-काल में कपिलवत्थु नगर के खेमक शाक्य की पटरानी की कोख में उत्पन्न हुई। 'नन्दा' यह उसका नाम था। वह शरीर के अत्यधिक रूपसौन्दर्य की प्राप्ति से सुन्दर, दर्शनीय तथा प्यारी थी। (इसलिए वह) 'अभिरूपनन्दा' नाम से ही जानी जाने लगी। बड़ी होने पर उसके स्वयंवर के दिन ही चरभूत शाक्य-कुमार मर गया। तब (उसके) माता-पिता ने उसकी इच्छा के विरूद्ध उसको प्रव्रजित करा दिया। प्रव्रज्या दिलाये जाने पर भी वह रूप के आधार से उत्पन्न होने वाले मद से युक्त ही रही। 'शास्ता (बुद्ध) रूप की बुराई करते हैं, निन्दा करते हैं तथा अनेक प्रकार से रूप में दोष

१. प्रस्तुत उद्धरण परमत्थदीपिनी (थेरीगाथा की अट्ठकथा, पृ० २५) से लिया गया है। इसमें भिक्षुसंघ एवं भिक्षुणीसंघ में भगवान् बुद्ध के महत्त्वपूर्ण स्थान की झलक मिलती है। साथ ही तत्कालीन समाज को स्थिति ज्ञात होती है कि विवाह के लिए निश्चित किये गये वर की मृत्यु हो जाने पर कन्या को किस प्रकार अविवाहित रह जाना पड़ता था।

परियायेन रूपे आदीनवं दस्सेती' ति बुद्धुपट्ठानं न गच्छति। भगवा तस्सा ञाणपरिपाकं ञत्वा महापजापतिं आणापेसि—"सब्बापि भिक्खुनियो पटिपाटिया ओवादं आगच्छन्तू' ति। सा अत्तनो वारे सम्पत्ते अञ्ञं पेसेसि। भगवा 'वारे सम्पत्ते अत्तनोव आगन्तब्बं, न अञ्ञं पेसेतब्बं' ति आह। सा सत्थु आणं लङ्घितुं असक्कोन्ती भिक्खुनीहि सद्धिं बुद्धुपट्ठानं अगमासि। भगवा इद्धिया एकं अभिरूपं मापेत्वा पुन जराजिण्णं दस्सेत्वा संवेगं उप्पादेत्वा—

"आतुरं असुचिं पूतिं पस्स नन्दे समुस्सयं।
असुभाय चित्तं भावेहि एकग्गं सुसमाहितं॥

(संस्कृतच्छाया)

अनेकपर्यायेण रूपे आदीनवं दर्शयति' इति बुद्धोपस्थानं न गच्छति। भगवान् तस्या ज्ञानपरिपाकं ज्ञात्वा महाप्रजापतिमजिज्ञपत् 'सर्वा अपि भिक्षुण्यः परिपाट्या अववादमागच्छन्तु' इति। सा आत्मनो वारे सम्प्राप्तेऽन्यां प्रैषिषत्। भगवान् 'वारे सम्प्राप्ते आत्मना एव आगन्तव्यम्, नान्या प्रेषयितव्या' इत्यवोचत्। सा शास्तुराज्ञां लङ्घितुमशक्नुवती भिक्षुणीभिः सार्धं बुद्धोपस्थानमगमत्। भगवान् ऋद्ध्या एकामभिरूपां मापयित्वा पुनः जराजीर्णां दर्शयित्वा संवेगमुत्पाद्य—

आतुरमशुचिं पूतिं पश्य नन्दे समुच्छ्रयम्।
अशुभाय चित्तं भावय एकाग्रं सुसमाहितम्॥

(हिन्दी-अनुवाद)

दिखाते हैं' इस प्रकार सोच बुद्ध के पास उपदेश सुनने नहीं जाती थी। भगवान् ने उसके ज्ञान के परिपाक (फल) को जानकर महाप्रजापती को आज्ञा दी—'सभी भिक्षुणियाँ क्रम से उपदेश (सुनने) को आवें। उसने अपनी पारी आने पर दूसरी (भिक्षुणी) को भेज दिया। भगवान् ने 'पारी आने पर स्वयं को ही आना चाहिए; दूसरी (भिक्षुणी) को नहीं भेजना चाहिए' ऐसा कहा। वह शास्ता की आज्ञा का उल्लंघन न कर पाती हुई भिक्षुणियों के साथ बुद्ध के पास बैठने गई। भगवान् ने ऋद्धि से एक सुन्दर (स्त्री) को बनाकर पुनः (उसी को) बुढ़ापे से जीर्ण दिखलाकर संवेग (क्षोभ) उत्पन्न कर—'हे नन्दा! व्याधिरूप अपवित्र तथा दुर्गन्धमय शरीर को देखो। एकाग्र, अच्छी तरह

अनिमित्तं च भावेहि मानानुसयमुज्जह ।
ततो मानाभिसमया उपसन्ता चरिस्ससी" ति ॥

इमा द्वे गाथा अभासि । गाथापरियोसाने अभिरूपनन्दा अरहत्तं पापुणि ।

(संस्कृतच्छाया)

अनिमित्तञ्च भावय मानानुशयमुज्जहाहि ।
ततो मानाभिसमयाद् उपशान्ता चरिष्यसि ॥

इमे द्वे गाथेऽभाषिष्ट । गाथापर्यवसाने अभिरूपनन्दा अर्हत्त्वं प्रापत् ।

(हिन्दी अनुवाद)

से सधे हुए चित्त को अशुभ (के चिन्तन) के लिए लगाओ । (तू) निमित्त हीन ध्यान का अभ्यास कर, मान रूपी मैल को छोड़ दे । तब मान का अच्छी तरह दमन करने से (तुम) शान्त होकर विचरण करोगी' ।

ये दो गाथायें कहीं । गाथा समाप्त होने पर अभिरूपनन्दा ने अर्हत् पद को प्राप्त किया ।

---

२२. मृत्योरपरिहार्यता[1]

सा (किसा गोतमी) देवमनुस्सेसु संसरन्ती इमस्मिं बुद्धुप्पादे सावत्थियं दुग्गतकुले निब्बत्ति। 'गोतमी' तिस्सा नामं अहोसि, किससरीरताय पन 'किसा गोतमी ति वोहरियित्थ। तं पतिकुलं गतं 'दुग्गतकुलस्स धीता' ति परिभविंसु। सा एकं पुत्तं विजायि। पुत्तलाभेन चस्सा सम्मानं अकंसु। सो पनस्सा पुत्तो आधावित्वा परिधावित्वा कीळनकाले ठितो कालमकासि। तेनस्सा सोकुम्मादो उप्पज्जि। 'सा अहं पुब्बे परिभवप्पत्ता हुत्वा पुत्तस्स जातकालतो पट्ठाय सक्कारं

(संस्कृतच्छाया)

सा (कृशा गौतमी) देवमनुष्येषु संसरन्ती अस्मिन् बुद्धोत्पादे श्रावस्त्यां दुर्गतकुले न्यवर्तिष्ट। 'गौतमी' इत्यस्याः नामाऽभूत्; कृशशरीरतया पुनः 'कृशा गौतमी' इति व्यवाहारि। तां पतिकुलं गतां 'दुर्गतकुलस्य दुहिता' इति पराभूवन्। सा एकं पुत्रं व्यजीजनत्। पुत्रलाभेन चाऽस्याः सम्मानमकार्षुः। स पुनरस्याः पुत्रः आधाव्य परिधाव्य क्रीडनकाले स्थितः कालमकार्षीत्। तेनास्याः शोकोन्मादः उदपादि। 'सा अहं पूर्वस्मिन् परिभवप्राप्ता भूत्वा

(हिन्दी-अनुवाद)

वह (कृशा गौतमी) देव-मनुष्यों (के भवों) में जन्म लेती हुई बुद्ध-काल में श्रावस्ती के निर्धन कुल में उत्पन्न हुई। 'गौतमी' यह उसका नाम था। शरीर के दुबलेपन से 'कृशा गौतमी' कही जाती थी। उसका पतिकुल में जाने पर (मनुष्य) 'निर्धन कुल की लड़की है' इस तरह अनादर करते थे। उसने एक पुत्र को जन्म दिया। पुत्र के लाभ से (मनुष्य) उसका सम्मान करने लगे। उसका वह पुत्र दौड़धूप कर खेलते समय खड़े-खड़े (ही) मर गया। उससे इस (कृशा गौतमी) को शोक-उन्माद (दुःख से पागलपन) छा गया। 'वह मैं पहले अनादर को प्राप्त होकर पुत्र के उत्पन्न होने के समय

---

१. प्रस्तुत गद्यांश परमत्थदीपिनी (पृ० १७४-१७५) से लिया गया है। कृशा गौतमी का जन्म श्रावस्ती के एक निर्धन घर में हुआ था। उसका नाम गौतमी था किन्तु अत्यन्त कृश होने से कृशा कहलाने लगी। गरीब की पुत्री होने से पहले पति के घर उसे आदर प्राप्त नहीं हुआ किन्तु पुत्र उत्पन्न होते ही उसे आदर मिलने लगा। उसका पुत्र बाल्यावस्था में ही मर गया। फलतः वह विक्षिप्त हो गई। अन्त में भगवान् बुद्ध से उसे ज्ञान मिला और वह भिक्षुणी हो गई।

पापुणिं। इमे मय्हं पुत्तं बहि छड्डेतुं पि वायमन्ती' ति सोकुम्मादवसेन मतकळेवरं अङ्केनादाय 'पुत्तस्स मे भेसज्जं देथा' ति गेहद्वारपटिपाटिया नगरे विचरति। मनुस्सा 'भेसज्जं कुतो' ति परिभासन्ति। सा तेसं कथं न गण्हाति। अथ नं एको पण्डितपुरिसो 'अयं पुत्तसोकेन चित्तविक्खेपं पत्ता, एतिस्सा भेसज्जं दसबलो जानिस्सती' ति चिन्तेत्वा 'अम्म, तव पुत्तस्स भेसज्जं सम्मासम्बुद्धं उपसङ्कमित्वा पुच्छा' ति आह। सा सत्थुधम्मदेसनावेलायं विहारं गन्त्वा 'पुत्तस्स मे भेसज्जं देथ भगवा' ति आह। सत्था तस्सा उपनिस्सयं दिस्वा 'गच्छ, नगरं पविसित्वा यस्मिं गेहे कोचि मतपुब्बो नत्थि ततो सिद्धत्थकं आहरा' ति

(संस्कृतच्छाया)

पुत्रस्य जातकालतः प्रस्थाय सत्कारं प्रापम्। इमे मम पुत्रं छर्दितुमपि व्यायामयन्ति'—इति शोकोन्मादवशेन मृतकलेवरम् अङ्के आदाय 'पुत्राय मे भैषज्यं दत्त' इति गृहद्वारपरिपाट्या नगरे विचरति। मनुष्याः 'भैषज्यं कुतः' ? इति परिभाषन्ते। सा तेषां कथां न गृह्णाति। अथ ननु एकः पण्डितपुरुषः 'इयं पुत्रशोकेन चित्तविक्षेपं प्राप्ता, एतस्या भैषज्यं दशबलो ज्ञास्यति' इति चिन्तयित्वा 'अम्ब ! तव पुत्रस्य भैषज्यं सम्यक्सम्बुद्धमुपसङ्क्रम्य पृच्छ'—इति अवोचत्। सा शास्तुः धर्मदेशनावेलायां विहारं गत्वा 'पुत्राय मे भैषज्यं दत्त (ददातु) भगवन् !' इत्यवोचत्। शास्ता तस्याः उपनिश्रयं दृष्ट्वा 'गच्छ, नगरं प्रविश्य यस्मिन् गृहे कश्चिद् मृतपूर्वो नास्ति, ततः सिद्धार्थकमाहर'

(हिन्दी-अनुवाद)

से सत्कार को प्राप्त करने लगी थी। ये लोग मेरे पुत्र को बाहर छोड़ने के लिए भी कोशिश कर रहे हैं' इस प्रकार शोक के पागलपन के कारण (बच्चे के) मृत शरीर को गोद में लेकर 'मेरे पुत्र के लिए दवा दो' इस प्रकार (कहती हुई) घर के दरवाजों के क्रम से नगर में घूमने लगी। मनुष्य 'दवा कहाँ से (दें)' इस प्रकार अनादर करते थे। वह उनकी बात को नहीं समझती थी। तक एक पण्डित पुरुष ने 'यह पुत्र-शोक से चित्त की विक्षिप्तता को प्राप्त है, इसकी दवा दशबल (बुद्ध) जानेंगे' इस प्रकार विचार कर 'अम्ब ! तुम अपने पुत्र की दवा सम्यक् सम्बुद्ध के पास जाकर पूछो' इस प्रकार कहा। वह शास्ता के धर्मोपदेश के समय विहार में जाकर 'भगवन् ! मेरे पुत्र को दवा दो' ऐसा बोली। शास्ता ने उसके विश्वास को देखकर 'जाओ नगर में प्रवेश कर जिस घर में पहले कोई न मरा हो, उस (घर) से सरसों ले आओ' इस

आह। सा 'साधु भन्ते' ति तुट्ठमानसा नगरं पविसित्वा पठमगेहे येव गन्त्वा 'मम पुत्तस्स भेसज्जत्थाय सिद्धत्थकं आहरापेमि सचे एतस्मिं गेहे कोचि मतपुब्बो नत्थि सिद्धत्थकं मे देथा' ति आह। 'को इध मते गणेतुं सक्कोती' ति। 'किं तेहि अहं सिद्धत्थकेही' ति दुतियं ततियं घरं गन्त्वा बुद्धानुभावेन विगतुम्मादा पकतिचित्ते ठिता चिन्तेसि—'सकले नगरे अयमेव नियामो भविस्सति। इदं हितानुकम्पिना भगवता दिट्ठं भविस्सती' ति संवेगं लभित्वा ततो च बहि निक्खमित्वा आमकसुसाने (मतकळेवरं) छड्डेत्वा सत्थुसन्तिकं अगमासि। अथ नं सत्था 'लद्धो ते गोतमी सिद्धत्थको' ति आह 'निट्ठितं, भन्ते, सिद्धत्थकेन कम्मं, पतिट्ठानं मे होथा' ति आह।

(संस्कृतच्छाया)

—इत्यवोचत्। 'साधु भदन्त'! इति तुष्टमानसा नगरं प्रविश्य प्रथमगृहे एव गत्वा 'मम पुत्रस्य भैषज्यार्थाय सिद्धार्थकमाहारयामि; चेदेतस्मिन् गृहे कश्चिद् मृतपूर्वो नास्ति, सिद्धार्थकं मे दत्त'—इत्यवोचत्। 'कः इह मृतान् गणयितुं शक्नोति'? इति। 'किं तैरहं सिद्धार्थकैः! इति द्वितीयं तृतीयं गृहं गत्वा बुद्धानुभावेन विगतोन्मादा प्रकृतिचित्ते स्थिता अचिचिन्तत्—'सकले नगरे अयमेव नियामो (नियमः) भविष्यति। इदं हितानुकम्पिना भगवता दृष्टं भविष्यति'—इति संवेगं लब्ध्वा ततः च बहिः निष्क्रम्य आमकश्मशाने (मृतकलेवरं) छर्दित्वा शास्तुरन्तिकमगमत्। अथ ननु शास्ता 'लब्धस्ते गौतमि! सिद्धार्थकः'? इत्यवोचत्। 'निष्ठितं, भदन्त! सिद्धार्थकेन कर्म, प्रतिष्ठानं मे भवेत (भवेत्)' इत्याह।

(हिन्दी-अनुवाद)

प्रकार कहा। उसने 'ठीक है भन्ते' इस प्रकार कह प्रसन्न मन से नगर में प्रवेश कर पहले घर में ही जाकर 'मेरे पुत्र की दवा के लिए सरसों मंगवाती हूँ, अगर इस घर में कोई पहले मरा न हो (तो) मेरे लिए सरसों दो' इस प्रकार कहा। 'यहाँ मरने वालों को गिनने में कौन समर्थ है' इस प्रकार (सुनकर) 'मैं ऐसे सरसों से क्या करूँगी' इस प्रकार (कहती हुई) दूसरे तीसरे घर जाकर बुद्ध के प्रभाव से पागलपन से रहित स्वाभाविक चित्त में स्थित हो (उसने) विचारा (कि) 'सम्पूर्ण नगर में यही नियम होगा। हित में कृपा करने वाले भगवान् के द्वारा यह दिखाना (अनुभव कराना) अभीष्ट होगा' इस प्रकार (सोच) क्षोभ को प्राप्त कर वहाँ से बाहर निकल कर मुर्दा फेंकने के स्थान पर (बच्चे के शव को) फेंक कर शास्ता के पास गई। तब शास्ता ने 'हे गौतमी सरसों पाया?' इस प्रकार पूछा। (गौतमी ने) भगवान्! सरसों से काम पूरा हो गया है, मेरा उद्धार हो' इस प्रकार कहा।

—❀—

२३. सुमेधपण्डितस्य चिन्तनं[1]

अथेकदिवसं सो सुमेधपण्डितो उपरिपासादवरतले रहोगतो हुत्वा पल्लङ्कं आभुजित्वा निसिन्नो चिन्तेसि—पुनब्भवे, पण्डित ! पटिसन्धिगहणं नाम दुक्खं, तथा निब्बत्तनिब्बत्तट्ठाने सरीरभेदनं। अहं च जातिधम्मो जराधम्मो व्याधिधम्मो मरणधम्मो। एवंभूतेन मया अजातिं अजरं अव्याधिं अदुक्खमसुखं सीतलं अमतमहानिब्बानं परियेसितुं वट्टति। अवस्सं भवतो मुञ्चित्वा निब्बानगामिना एकेन मग्गेन भवितब्बं ति।

(संस्कृतच्छाया)

अथैकदिवसं सः सुमेधपण्डित उपरिप्रासादवरतले रहोगतो भूत्वा पर्यङ्कमाभुज्य निषण्णोऽचिचिन्तत्—पुनर्भवे, पण्डित ! प्रतिसन्धिग्रहणं नाम दुःखं तथा निर्वृत्तनिर्वृत्तस्थाने शरीरभेदनम्। अहञ्च जातिधर्मो जराधर्मो व्याधिधर्मो मरणधर्मः। एवंभूतस्य मम (एवंभूतेन मया) अजातिं अजरं अव्याधिं अदुःखमसुखं शीतलं अमृतमहानिर्वाणं पर्येषितुं वर्तते। अवश्यं भवतो मुक्त्वा निर्वाणगामिना एकेन मार्गेण भवितव्यमिति।

(हिन्दी-अनुवाद)

एक दिन वह सुमेध पण्डित (अपने) श्रेष्ठ प्रासाद के ऊपरी हिस्से में अकेला पालथी मारकर बैठा हुआ सोचने लगा—पण्डित ! पुनर्भव में जन्म ग्रहण करना दुःख है और उत्पन्न हुए स्थानों में (प्रत्येक जन्म में) मृत्यु को प्राप्त करना (दुःख है)। और मैं जन्म, बुढ़ापा, बीमारी और मृत्यु की विशेषताओं वाला हूँ। इस प्रकार के मेरे द्वारा जन्म, बुढ़ापा, बीमारी, दुःख तथा सुख से रहित शीतल अमृतरूप महानिर्वाण की खोज करनी चाहिए। अवश्य ही भव (संसार) से अलग निर्वाण को जाने वाले मार्ग को होना चाहिए।

---

१. प्रस्तुत गद्यांश जातकट्ठकथा की निदान कथा (पृ० ६-१२) से उद्धृत किया गया है। बहुत काल पूर्व भगवान् बुद्ध अमरावती नामक नगर में सुमेध नाम के पण्डित थे। इनके माता-पिता बचपन में ही मर गये थे। विद्यार्जन पूरा हो जाने पर जब उन्हें पूर्वजों द्वारा संगृहीत अपार धन दिखाया गया तो उनके मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया और गृह त्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। तत्पश्चात् अनेक जन्मों में बुद्धकारक धर्मों (पारमिताओं) को पूर्ण कर अन्तिम जन्म में बुद्धत्व प्राप्त किया।

ततो उत्तरिंपि एवं चिन्तेसि—'यथा हि लोके दुक्खस्स पटिपक्खभूतं सुखं नाम अत्थि, एवं भवे सति तप्पटिपक्खेन विभवेनापि भवितब्बं। यथा च उण्हे सति तस्स वूपसमभूतं सीतंपि अत्थि, एवं रागादीनं अग्गीनं वूपसमेन निब्बानेनापि भवितब्बं। यथा च पापकस्स लामकस्स धम्मस्स पटिपक्खभूतो कल्याणो अनवज्जधम्मोपि अत्थि येव, एवमेव पापिकाय जातिया सति सब्बजातिक्खेपनतो अजातिसंखातेन निब्बानेनापि भवितब्बमेवा' ति।

अपरंपि चिन्तेसि—यथा नाम गूथरासिम्हि निमुग्गेन पुरिसेन दूरतोव पञ्चवण्णपदुमसञ्छन्नं महातळाकं दिस्वा—'कतरेन नु खो मग्गेन एत्थ गन्तब्बं' ति तं तळाकं गवेसितुं युत्तं; यं तस्स अगवेसनं, न सो तळाकस्स दोसो, एवं

(संस्कृतच्छाया)

तत उत्तरमपि एवमचिचिन्तत्—यथा हि लोके दुःखस्य प्रतिपक्षभूतं सुखं नामास्ति, एवं भवे सति तत्प्रतिपक्षेण विभवेनापि भवितव्यम्। यथा च उष्णे सति तस्य व्युपशमभूतं शीतमप्यस्ति, एवं रागादीनामग्नीनां व्युपशमेन निर्वाणेनापि भवितव्यम्। यथा च पापकस्य लामकस्य धर्मस्य प्रतिपक्षभूतः कल्याणोऽनवद्यधर्मोऽपि अस्त्येव, एवमेव पापिकायां जातौ सत्यां सर्वजातिक्षेपणतोऽजातिसंख्यातेन निर्वाणेनापि भवितव्यमेवेति।

अपरमपि अचिचिन्तत्—यथा नाम गूथराश्यां निमग्नेन पुरुषेण दूरत एव पञ्चवर्णपद्मसञ्छन्नं महातडागं दृष्ट्वा—कतरेण खलु मार्गेण अत्र गन्तव्यमिति स तडागो गवेषयितुं युक्तः, यत्तस्यागवेषणम्, न स तडागस्य दोषः, एवं

(हिन्दी-अनुवाद)

उसके आगे भी इस प्रकार विचारा—जिस प्रकार संसार में दुःख का प्रतिपक्षी (उलटा) सुख भी है, उसी प्रकार भव (संसार) के होने पर उसका प्रतिपक्षी विभव (संसार का अभाव या निर्वाण) भी होना चाहिए। और जिस प्रकार गर्मी के होने पर उसे शान्त करने वाली ठंड (शीत) भी है, उसी प्रकार रागादि अग्नियों को शान्त करने वाला निर्वाण भी होना चाहिए। जिस प्रकार पाप पूर्ण निम्न धर्म का प्रतिपक्षी (उलटा) कल्याणयुक्त निर्दोष धर्म है ही, उसी प्रकार पापमय जन्म के होने पर सभी जन्मों के अभाव से अजन्म नाम से ज्ञात निर्वाण भी होना चाहिए।

और भी विचारा—जैसे मल की राशि में डूबे हुए पुरुष के द्वारा पांच वर्णों के कमलों से ढके हुए विशाल तालाब को देखकर 'किस रास्ते से यहां जाना चाहिए'—इस प्रकार (सोचकर) उस तालाब को खोजना उचित है। जो उसका नहीं खोजना

किलेसमलधोवनअमतमहानिब्बानतळाके विज्जन्ते तस्स अगवेसनं न अमत-निब्बानमहातळाकस्स दोसो। यथा च चोरेहि सम्पवारितो पुरिसो पलायनमग्गे विज्जमानेपि सचे न पलायति, न सो मग्गस्स दोसो, पुरिसस्सेव दोसो; एवमेव किलेसेहि परिवारेत्वा गहितस्स पुरिसस्स विज्जमाने येव निब्बानगामिनि सिवे मग्गे, मग्गस्स अगवेसनं नाम न मग्गस्स दोसो, पुग्गलस्सेव दोसो। यथा च पुरिसो नानारतनानि आदाय चोरेहि सद्धिं मग्गं गच्छन्तो अत्तनोरतननास-भयेन ते छड्डेत्वा खेमं मग्गं गण्हाति, एवं अयम्पि करजकायो रतनविलोपक-चोरसदिसो। सचाहं एत्थ तण्हं करिस्सामि, अरियमग्गकुसलधम्मरतनं मे

(संस्कृतच्छाया)

क्लेशमलधावनामृतमहानिर्वाणतडागे विद्यमाने तस्यागवेषणं न अमृतनिर्वाण-महातडागस्य दोषः। यथा च चौरैः सम्प्रवारितः पुरुषः पलायनमार्गे विद्यमानेऽपि चेद् न पलायते, न स मार्गस्य दोषः, पुरुषस्यैव दोषः; एवमेव क्लेशैः परिवार्य गृहीतस्य पुरुषस्य विद्यमान एव निर्वाणगामिनि शिवे मार्गे, मार्गस्याग-वेषणं नाम न मार्गस्य दोषः, पुद्गलस्यैव दोषः। यथा च पुरुषो नानारत्नानि आदाय चौरैः सार्धं मार्गं गच्छन् आत्मनः रत्ननाशभयेन तान् छर्दयित्वा क्षेमं मार्गं गृह्णाति, एवं अयमपि करजकायो रत्नविलोपकचौरसदृशः। चेद् अहमत्र

(हिन्द -अनुवाद)

है, वह तालाब का दोष नहीं है। उसी प्रकार क्लेश मलों को धोने में समर्थ अमृतभूत महानिर्वाण तालाब के रहते उसे न खोजना अमृतभूत निर्वाण रूपी महातालाब का दोष नहीं है। और जिस प्रकार चोरों से घिरा हुआ पुरुष भागने का रास्ता रहने पर भी यदि नहीं भागता है, (तो) वह रास्ते का दोष नहीं है, पुरुष का ही दोष है; उसी प्रकार क्लेशों से घिरे एवं ग्रस्त पुरुष के लिए निर्वाणगामी कल्याणप्रद मार्ग के रहने पर भी मार्ग को न खोजना मार्ग का दोष नहीं है, मनुष्य का ही दोष है। जिस प्रकार पुरुष नाना रत्नों को लेकर चोरों के साथ रास्ते में जाता हुआ अपने रत्नों के नाश के भय के कारण उन (चोरों) को छोड़कर कल्याणकारी मार्ग ग्रहण करता है, उसी प्रकार यह अपवित्र शरीर रत्न लूटने वाले चोरों के समान है। अगर मैं यहाँ (शरीर में) तृष्णा (आसक्ति) करूँगा (तो) मेरा आर्य मार्ग रूपी उत्तम धर्मरत्न

नस्सिस्सति। तस्मा मया इमं चोरसदिसं कायं छड्डेत्वा निब्बाननगरं पविसितुं वट्टती' ति।

(संस्कृतच्छाया)

तृष्णां करिष्यामि आर्यमार्गकुशलधर्मरत्नं मे नशिष्यति। तस्माद् मया इमं चौरसदृशं कायं छर्दयित्वा निर्वाणनगरं प्रवेष्टुं वर्तते इति।

(हिन्दी-अनुवाद)

नष्ट हो जायेगा। इसलिए मेरे द्वारा इस चोर के समान शरीर को छोड़कर निर्वाण नगर में प्रवेश करना उचित है।

—❀—

२४. अशिष्टाचारफलम्[1]

अतीते पठमकप्पे चतुप्पदा सीहं राजानं अकंसु, मच्छा आनन्दमच्छं, सकुणा सुवण्णहंसं। तस्स पन सुवण्णराजहंसस्स धीता हंसपोतिका अभिरूपा अहोसी' ति सो तस्सा वरं अदासि। सा अत्तनो चित्तरुचितं सामिकं वारेसि। हंसराजा तस्सा वरं दत्वा हिमवन्ते सब्बसकुणे सन्निपातापेसि। नानप्पकारा हंसमोरादयो सकुणगणा समागन्त्वा एकस्मिं महन्ते पासाणतले सन्निपतिंसु। हंसराजा 'अत्तनो चित्तरुचितं सामिकं आगन्त्वा गण्हतू' ति धीतरं पक्कोसापेसि। सा सकुणसंघं आलोकेन्ती मणिवण्णगीवं चित्रपेक्खुणं मोरं दिस्वा

(संस्कृतच्छाया)

अतीते प्रथमकल्पे चतुष्पदाः सिंहं राजानमकार्षुः; मत्स्याः आनन्दमत्स्यं; शकुनाः सुवर्णहंसम्। तस्य पुनः सुवर्णराजहंसस्य दुहिता हंसपोतिका अभिरूपा अभूदिति स तस्यै वरमदात्। स आत्मनः चित्तरुचितं स्वामिकमवारीत्। हंसराजः तस्यै वरं दत्त्वा हिमवति सर्वशकुनान् सन्यपीपतत्। नाना प्रकाराः हंसमयूरादयः शकुनगणाः समागत्य एकस्मिन् पाषाणतले सन्यपप्तन्। हंसराज 'आत्मनः चित्तरुचितं स्वामिकमागत्य गृह्णातु'' इति दुहितरं प्राचुक्रुशत्। सा शकुनसङ्घमवलोकयन्ती मणिवर्णग्रीवं चित्रप्रेक्षणं मयूरं दृष्ट्वा

(हिन्दी-अनुवाद)

अतीत में प्रथम कल्प में पशुओं ने सिंह को राजा बनाया, मछलियों ने आनन्द-मछली को (और) पक्षियों ने सुवर्ण-हंस को। उस सुवर्ण-राजहंस की पुत्री 'हंस-पोतिका' अत्यन्त सुन्दरी थी। (इसलिए) उस (हंस) ने उस (अपनी पुत्री) को वर दिया। उसने अपनी इच्छानुसार पति के लिए वर मांगा। हंसराज ने उसे वर देकर हिमालय पर सब पक्षियों को एकत्रित कराया। नाना प्रकार के हंस-मयूर आदि पक्षीगण चारों ओर से आकर एक बड़े पत्थर पर इकट्ठे हो गये। हंसराज ने 'अपनी इच्छानुसार पति को आकर ग्रहण करे' इस प्रकार (कहलवा कर) लड़की को बुलवाया। उसने पक्षियों के संघ को देखते हुए मणि के समान गर्दन (और) रंग-विरंगे पंखों

---

१. प्रस्तुत अवतरण जातकट्ठकथा (खण्ड १, पृ० १४७) से लिया गया है। बौद्धधर्म में लज्जा एवं संकोच का अत्यधिक महत्त्व है। लज्जा एवं संकोच से रहित प्राणी की क्या दशा होती है—यही इस पाठ में दिखाया गया है।

'अयं मे सामिको होतू' ति आरोचेसि। सकुणसंघा मोरं उपसंकमित्वा आहंसु—'सम्म मोर ! अयं राजधीता एत्तकानं सकुणानं मज्झे सामिकं रोचेन्ती तयि रुचिं उप्पादेसी' ति। मोरो 'अज्जापि ताव मे बलं न पस्ससी' ति अतितुट्ठिया हिरोत्तप्पं भिन्दित्वा ताव महतो सकुणसंघस्स मज्झे पक्खे पसारित्वा नच्चितुं आरभि। नच्चन्तो अप्पटिच्छन्नो अहोसि। सुवण्णहंसराजा लज्जितो 'इमस्स नेव अज्झत्तसमुट्ठाना हिरि अत्थि, न बहिद्धासमुट्ठानं ओत्तप्पं। नच्चन्तो नास्स भिन्नहिरोत्तप्पस्स मम धीतरं दस्सामी' ति सकुणसंघमज्झे इमं गाथं आह—

'रुदं मनुञ्ञं रुचिरा च पिट्ठी वेळुरियवण्णूपनिभा च गीवा।

(संस्कृतच्छाया)

'अयं मे स्वामिको भवतु'—इत्यारोचिष्ट। शकुनसङ्घा मयूरमुपसङ्क्रम्य अवोचन्—'सौम्य मयूर ! इयं राजदुहिता एतावतां शकुनानां मध्ये स्वामिकं रुचमाणा त्वयि रुचिमुदपादि। मयूरः 'अद्यापि तावन्मे बलं न पश्यसि'' इति अतितुष्ट्या ह्यापत्रप्यं भित्त्वा तावन्महतः शकुनसङ्घस्य मध्ये पक्षौ प्रसार्य नर्तितुमारब्धः। नृत्यन् अप्रतिच्छन्नोऽभूत्। सुवर्णहंसराजः लज्जितः 'अस्य नैव अध्यात्मसमुत्थाना ह्रीः अस्ति; न बहिर्धासमुत्थानमापत्रप्यम्; नृत्यन् नास्मै भिन्नह्र्यापत्रप्याय मम दुहितरं दास्यामि' इति शकुनसङ्घमध्ये इमां गाथामवोचत्

रुतं मनोज्ञं रुचिरा च पृष्ठिः
वैडूर्यवर्णोपनिभा च ग्रीवा।

(हिन्दी-अनुवाद)

वाले मयूर को देखकर 'यह मेरा पति हो' इस प्रकार (कहकर) पसन्द किया। पक्षियों के संघ ने मयूर के पास जाकर कहा—'सौम्य मयूर ! इस राजकन्या ने इतने पक्षियों के बीच में पति पसन्द करती हुई तुझ में इच्छा उत्पन्न की है। मयूर ने 'आज भी मेरे बल को नहीं देखते हो' इस प्रकार (कहकर) अतिहर्ष से लज्जा को त्याग (उसने) भारी पक्षी संघ के बीच में पंख फैलाकर नाचना शुरू किया। नाचते हुए (वह) नंगा हो गया। सुवर्ण हंसराज ने लज्जित होकर 'इसे न तो अपने भीतर उत्पन्न होने वाली लज्जा है, (और) न बाहर से उत्पन्न होने वाला संकोच। लज्जा और संकोच से हीन इसे (मैं) अपनी कन्या नहीं दूँगा' इस प्रकार (कहते हुए) पक्षी-संघ के बीच यह गाथा कही—

वाणी मनोज्ञ है, पीठ सुन्दर है, गर्दन बैडूर्य मणि के वर्ण जैसी है तथा चार

व्याममत्तानि च पेक्खुणानि नच्चेन ते धीतरं नो ददामी' ति ॥

हंसराजा तस्मिं येव परिसमज्झे अत्तनो भागिनेय्यहंसपोतकस्स धीतरं अदासि। मोरो हंसपोतिकं अलभित्वा लज्जित्वा ततोव उड्डेत्वा पलायि। हंसराजापि अत्तनो वसनट्ठानमेव गतो।

(संस्कृतच्छाया)

व्याममात्राणि च प्रेक्षणानि
नृत्येन ते दुहितरं नो ददामि' इति ॥

हंसराजः तस्मिन्नेव परिषन्मध्ये आत्मनो भागिनेयहंसपोतकाय दुहितरमदात्। मयूरो हंसपोतिकामलब्ध्वा लज्जित्वा तत एव उत्थाय पलायिष्ट। हंसराजोऽपि आत्मनो वसनस्थानमेव गतः।

(हिन्दी-अनुवाद)

हाथ लम्बे पंख हैं किन्तु नाचने से तुझे अपनी कन्या नहीं दूँगा।

हंसराज ने उसी परिषद् के बीच अपने भांजे हंसपोतक को पुत्री दे दी। मयूर हंसपोतिका को न पा लज्जित हो वहाँ से उड़कर भाग गया। हंसराज भी अपने वासस्थान को ही चला गया।

काव्य-साहित्य

२५. मारस्य गर्व-गलनम्[1]

तदा वसवत्ति मारो छकामावचरिस्सरो ।
ससेनवाहनो बोधिमण्डं युद्धायुपागमि ॥ १ ॥
एथ गण्हथ बन्धथ छड्डेथ चेटकं इमं ।
मनुस्सकलले जातो किमिहन्ति न मञ्ञति ॥ २ ॥

(संस्कृतच्छाया)

तदा वशवर्ती मारः षट्कामावचरेश्वरः ।
ससेनवाहनो बोधिमण्डं युद्धायोपागमत् ॥१॥
एत ! गृह्णीत ! बध्नीत ! छर्दत ! चेटकमिमम् ।
मनुष्यकलले जातः किमिहेति न मन्यते ॥२॥

(हिन्दी-अनुवाद)

तब छ कामावचर लोकों का ईश्वर, अत्यधिक शक्तिसम्पन्न मार सेना तथा वाहन के साथ बोधिस्थल पर युद्ध के लिये गया ॥ १ ॥

आओ, इस चेटक (दास) को पकड़ लो, बाँध लो, फेंक दो । मनुष्य के कलल (गर्भ) में उत्पन्न यहाँ 'यह क्या है' इसे नहीं मानता है ॥ २ ॥

---

१. पालि का काव्य-साहित्य उतना समृद्ध नहीं है जितना संस्कृत का । इसका प्रमुख कारण यह है कि काव्य-साहित्य को विशेषता प्रदान करने वाले रसात्मक वाक्यों को स्थविरवादी बौद्ध-परम्परा में प्रश्रय न देकर उन्हें हेय दृष्टि से देखा गया है । फलतः पालिभाषा में काव्य-प्रतिभा को प्रोत्साहन नहीं मिल सका । फिर भी बुद्धवचनों एवं उनकी अट्ठकथाओं का काम पूर्ण हो जाने के बाद लंका एवं वर्मा के विहारों में रहने वाले भिक्षुओं की प्रवृत्ति पालि में काव्य-साहित्य लिखने की ओर बढ़ी और वह बुद्ध, धर्म एवं संघ पर जाकर केन्द्रित हो गई । भाषा एवं शैली की दृष्टि से पालि के काव्य-साहित्य पर संस्कृत के काव्य-साहित्य का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है जिसका यथास्थान उल्लेख किया गया है ।

२. प्रस्तुत पद्यांश जिनालंकार (१२वीं शताब्दी) के पृ० १३७-१४५ एवं १५५ से उद्धृत किया गया है । जिनालंकार पर संस्कृत के किरातार्जुनीय एवं शिशुपाल-वध जैसे महाकाव्यों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । ग्रन्थ का विषय ज्ञान-प्राप्ति तक बुद्ध की जीवनी का वर्णन करना है । उद्धृत पद्यांश में बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए उद्यत सिद्धार्थ पर मार के आक्रमण का और तत्पश्चात् मार की पराजय का वर्णन है ।

जलन्तं नवविधं वस्सं वस्सापेसि अनप्पकं ।
धुमन्धकारं कत्वान पातेसि असनिं बहुं ॥ ३ ॥

चक्कायुधं खिपन्तो च नासक्खि किञ्चि कातवे ।
गहेतब्बं हि गहणं अपस्सन्तो इतिब्रवी ॥ ४ ॥

सिद्धत्थ ! कस्मा आसीनो आसने मम सन्तिके ।
उट्ठेहि आसना नो चे फालेमि हृदयं तव ॥ ५ ॥

सपादमूले कीळन्तं पस्सन्तो तरुणं सुतं ।
पिता वुदिक्खि तं वुत्तं मेत्तायन्तो दयापरो ॥ ६ ॥

(संस्कृतच्छाया)

ज्वलन्तं नवविधं वर्षमवीवृषदनल्पकम् ।
धूमान्धकारं कृत्वा अपीपतदशर्नि बहुम् ॥३॥

चक्रायुधं क्षिपंश्च नाशकत् किञ्चित् कर्तुम् ।
ग्रहीतव्यं हि ग्रहणमपश्यन्नित्यवोचत् ॥४॥

सिद्धार्थ ! कस्मादासीन आसने ममाऽन्तिके ।
उत्तिष्ठ आसनाद् नो चेत् स्फोटयामि हृदयं तव ॥५॥

स्वपादमूले क्रीडन्तं पश्यन् तरुणं सुतम् ।
पिता इव उदैक्षिष्ट तं ब्रुवन्तं मित्रयन् दयापरः ॥६॥

(हिन्दी-अनुवाद)

(तब उस मार ने) जलती हुई नौ प्रकार की भारी वर्षा करायी, घुँए से अन्धकार कर बहुत बिजली गिरवायी ॥ ३ ॥

चक्रायुद्ध को फेंकता हुआ कुछ भी करने में समर्थ नहीं होने वाला (वह मार) ग्रहण करने योग्य के ग्रहण को न देखता हुआ (कि कर्त्तव्य विमूढ हो) इस प्रकार बोला ॥४॥

सिद्धार्थ ! किस कारण से (तुम) मेरे आसन के पास बैठे हो । आसन से उठ जाओ, नहीं तो तुम्हारा हृदय फड़वाता हूँ ॥ ५ ॥

अपने पैरों के पास खेलते हुए छोटे बच्चे को देखने वाले पिता की तरह मैत्री से परिपूर्ण दयायुक्त (सिद्धार्थ) ने कहने वाले उस (मार) को देखा ॥ ६ ॥

तदा सो आसभीवाचं सीहनादं नदी मुनि ।
न जानाति सयं मय्हं दासभावम्पयं खलो ॥ ७ ॥

येन केनचि कम्मेन जातो देवपुरे वरे ।
सकं गतिं अजानन्तो लोकजेट्ठो ति मञ्ञति ॥ ८ ॥

अनन्तलोकधातुम्हि सत्तानं हि कतं सुभं ।
मय्हेकपारमिस्सा पि कलं नाग्घति सोळसिं ॥ ९ ॥

इमस्स गण्डुप्पादस्स आयुधेन बलेन किं ।
मय्हं हि तेन पाणेन सल्लापो पि न युज्जति ॥१०॥

पल्लङ्कं मम भावाय किमञ्ञेनिध सक्खिना ।

(संस्कृतच्छाया)

तदा स आर्षभीं वाचं सिंहनादमनदीद् मुनिः ।
न जानाति स्वयं मम दासभावमप्ययं खलः ॥७॥

येन केनचित् कर्मणा जातो देवपुरे वरे ।
स्वकां गतिमजानन् लोकज्येष्ठ इति मन्यते ॥८॥

अनन्तलोकधातौ सत्त्वानां हि कृतं शुभम् ।
ममैकपारम्या (पारमितायाः) अपि कलां नार्हति षोडशीम् ॥९॥

अस्य ग्रन्थ्युत्पादस्य आयुधेन बलेन किम् ।
मम हि तेन प्राणिना संलापोऽपि न युज्यते ॥१०॥

पर्यङ्कं मम भावाय किमन्येनेह साक्षिणा ।

(हिन्दी अनुवाद)

तब उस मुनि ने प्रभावशाली वाणी वाले सिंहनाद को किया । यह दुष्ट स्वयं मेरे दास-भाव को (प्राप्त होकर) भी नहीं जानता है ॥ ७ ॥

किसी कर्म से उत्तम स्वर्गलोक में उत्पन्न (यह मार) अपनी अवस्था को न जानता हुआ 'लोक में श्रेष्ठ हूँ' ऐसा जानता है ॥ ८ ॥

(मेरे द्वारा) अनन्त लोक धातु (संसार) में प्राणियों के लिए शुभ कर्म किया गया है । (तू) मेरी एक पारमिता के सोलहवें भाग के भी लायक नहीं है ॥ ९ ॥

इस जमीन के कीड़े के हथियार और ताकत से क्या हो सकता है । ? मेरे लिए (तो) उस प्राणी से बात करना भी ठीक नहीं है ॥१० ॥

पालथी मारे बैठे मेरे स्वरूप के लिए यहाँ किसी दूसरे साक्षी से क्या ? काँपने

कम्पता मद्दिया दाना सक्खी होति अयं मही ॥११॥

इति वत्वा दक्खिणं बाहुं पथविया अवनामयी ।
तदा कम्पित्थ पथवी महाघोसो अजायथ ॥ १२ ॥

पथविघोसेन आकासो गज्जितत्तासनी फली ।
तस्मि मज्झगतो मारो सपरिसो भयताज्जितो ॥ १३ ॥

महावातसमुद्धूतं भस्मं व वोकिरीयथ ।
महाघोसो अजायित्थ सिद्धत्थस्स जयो इति ॥ १४ ॥

(संस्कृतच्छाया)

कम्पिता मर्दिता दानाद् साक्षिणी भवति इयं मही ॥११॥

इत्युक्त्वा दक्षिणं बाहुं पृथिव्यै अवानीनमत् ।
तदा अकम्पिष्ट पृथ्वी महाघोषोऽजायत ॥१२॥

पृथ्वीघोषेण आकाशमगर्जीत् तत्राशनिः अफालीत् ।
तस्मिन् मध्यगतो मारः सपुरुषो भयतर्जितः ॥१३॥

महावातसमुद्धूतं भस्म इव व्यकारीत् ।
महाघोषोऽजनि सिद्धार्थस्य जय इति ॥१४॥

(हिन्दी-अनुवाद)

वाली (तथा) कुचली जाने वाली (यह) पृथ्वी हीं मेरी साक्षी हो ॥ ११ ॥

इस प्रकार कहकर दाहिने हाथ को पृथ्वी की ओर झुकाया, तब पृथ्वी काँपी और भारी शब्द हुआ । पृथ्वी की आवाज से आकाश गरजा और वहाँ बिजली चमकी । उस समय अपनी परिषद् से युक्त बीच में स्थित, भय से डरा हुआ (वह मार) भारी हवा से उड़ी हुई राख के समान उड़ गया और 'सिद्धार्थ की जय हो' इस प्रकार भारी शब्द हुआ ॥ १२-१४ ॥

———

२६. मृत्युताण्डवम्[1]

ब्रह्मा सुरासुरगणा च महानुभावा,
गन्धब्बकिन्नरमहोरगरक्खसा च ।
ते चापरे च मरणग्गिसिखाय सब्बे,
अन्ते पतन्ति सलभा इव खीणपुञ्ञा ।। १ ।।

ये सारिपुत्तपमुखा मुनिसावका च,
सुद्धा सदासवनुदा वरमिद्धिपत्ता ।

(संस्कृतच्छाया)

ब्रह्मा सुरासुरगणाश्च महानुभावा
गन्धर्वकिन्नरमहोरगराक्षसाश्च ।
ते चाऽपरे च मरणाग्निशिखायां सर्वे
अन्ते पतन्ति शलभा इव क्षीणपुण्याः ।। १ ।।

ये शारिपुत्रप्रमुखा मुनिश्रावकाश्च
शुद्धाः सदाश्रवनुदः परमर्द्धिप्राप्ताः ।

(हिन्दी-अनुवाद)

जो महाप्रभाव वाले ब्रह्मा, सुर तथा असुर समूह, गन्धर्व, किन्नर, महानाग तथा राक्षस हैं, वे तथा अन्य सभी अन्त में पुण्यहीन हो पतङ्गों के समान मरणरूपी अग्निशिखा में गिरते हैं ।। १ ।।

जो सदा शुद्ध, मलरहित, उत्तम ऋद्धि को प्राप्त सारिपुत्र प्रमुख मुनि तथा

---

१. ये गाथाएँ (श्लोक) शतक-काव्य शैली के आधार पर कल्याणी नामक भिक्षु द्वारा लिखे गये 'तेलकटाहगाथा' (१२वीं शताब्दी) नामक रमणीय काव्य ग्रन्थ से उद्धृत की गई हैं । सिंहली साहित्य की कथा के अनुसार उपर्युक्त भिक्षु को राजा ने अपनी रानी के साथ अनुचित सम्बन्ध के आरोप में बन्दी बनाकर खौलते हुए तैल की कड़ाई में डाल देने की आज्ञा दी । उस भिक्षु ने मृत्यु को प्राप्त होने के पूर्व इन गाथाओं को गाया । यद्यपि इन गाथाओं में मरण, अनित्य दुःख आदि बौद्ध सिद्धान्तों का वर्णन है फिर भी उनमें काव्यमयता का अभाव नहीं है । प्रस्तुत गाथाओं में मरण का काव्यात्मक वर्णन है ।

ते चापि मच्चुवळवामुखसन्निमुग्गा
दीपानिवानिलहता खयतं उपेतं ॥ २ ॥

बुद्धापि बुद्धकमलामलचारुनेत्ता
बत्तिसलक्खणविराजितरूपसोभा ।
सब्बासवक्खयकरा पि च लोकनाथा
सम्मद्दिता मरणमत्तमहागजेन ॥ ३ ॥

रोगातुरेसु करुणा न जरातुरेसु,
खिड्डापरेसु सुकुमारकुमारकेसु ।
लोकं सदा हर्नात मच्चु महागजिन्दो
दावानलो वर्नामवाविरतो असेसं ॥ ४ ॥

(संस्कृतच्छाया)

ते चापि मृत्युवडवामुखसन्निमग्ना
दीपा इवानिलहताः क्षयतामुपेताः ॥ २ ॥
बुद्धा अपि बुद्धकमलामलचारुनेत्रा
द्वात्रिंशल्लक्षणविराजितरूपशोभाः ।
सर्वाश्रवक्षयकरा अपि च लोकनाथाः
सम्मर्दिता मरणमत्तमहागजेन ॥ ३ ॥
रोगातुरेषु करुणा न जरातुरेषु
क्रीडापरेषु सुकुमारकुमारकेषु ।
लोकं सदा हन्ति मृत्यु-महागजेन्द्रः
दावानलो वनमिवाऽविरतोऽशेषम् ॥ ४ ॥

(हिन्दी-अनुवाद)

श्रावक थे, मृत्युरूपी बड़वानल के मुख में डूबे हुए वे भी वायु के झोकों से (नष्ट) दीपों की तरह नाश को प्राप्त हो गये ॥ २ ॥

खिले हुए कमल की भाँति निर्मल, सुन्दर नेत्रवाले, बत्तीस लक्षणों से सुशोभित रूप शोभा वाले तथा समस्त आश्रवों (मलों) का क्षय करने वाले लोक के नाथ बुद्ध भी मरण रूपी मस्त महाहाथी द्वारा कुचल डाले गये ॥ ३ ॥

(मृत्यु को) न तो रोग से पीड़ितों पर करुणा है, न बुढ़ापे से पीड़ितों पर (और न ही) खेलने में लीन सुकुमार कुमारों पर । अतृप्त मृत्यु रूपी महागजेन्द्र दावानल (द्वारा नष्ट) वन की तरह हमेशा सम्पूर्ण लोक को मारता है ॥ ४ ॥

आपुण्णता न सलिलेन जलालयस्स
कट्ठस्स चापि पहुता न हुतासनस्स।
भुत्वान सो तिभुवनम्पि तथा असेसं
भो निद्दयो न खलु पीतिमुपेति मच्चु ॥ ५ ॥

निच्चातुरं जगदिदं सभयं ससोकं
दिस्वा च कोधमदमोहजराभिभूतं।
उब्बेगमत्तमपि यस्स न विज्जती चे
सो दारुणो न मरणो वत तं धिरत्थु ॥ ६ ॥

(संस्कृतच्छाया)

आपूर्णता न सलिलेन जलालयस्य
काष्ठस्य चाऽपि प्रभुता न हुताशनस्य।
भुक्त्वा स त्रिभुवनमपि तथा अशेषम्
भोः ! निर्दयो न खलु प्रीतिमुपैति मृत्युः ॥ ५ ॥

नित्यातुरं जगदिदं सभयं सशोकं
दृष्ट्वा च क्रोधमदमोहजराभिभूतम्।
उद्वेगमात्रमपि यस्य न विद्यते चेत्
स दारुणो न मरणं वत ! तं धिगस्तु ॥ ६ ॥

(हिन्दी-अनुवाद)

हे मनुष्यो ! पानी से समुद्र को पूर्णता (तृप्ति) नहीं होती, न काष्ठ की अधिकता से अग्नि को भी (पूर्णता होती)। उसी प्रकार वह निर्दय मृत्यु समस्त तीन लोकों को खाकर भी प्रीति को नहीं पाती अर्थात् सन्तुष्ट नहीं होती ॥ ५ ॥

नित्य आतुर, भय तथा शोक सहित (एवं) क्रोध, मद, मोह तथा बुढ़ापे से पीड़ित इस संसार को देखकर जिसके लिए उद्वेग मात्र भी नहीं होता वह (मनुष्य) दारुण है, मृत्यु नहीं। उस (मनुष्य) को धिक्कार है।

---

२७. धनवितृष्णा[1]

तहिं ब्रह्मन्वये जातो सब्बलोकाभिपूजितो ।
महादयो महापञ्ञो अभिरूपो मनोरमो ॥ १ ॥

सुमेध नाम नामेन वेदसागरपारगू ।
कुमारो सि गुरूनं सो अवसाने जिनङ्कुरो ॥ २ ॥

रासिवड्ढकमच्चेन दस्सितं अमितं धनं ।
अनेकसतगब्भेसु निहितं तं उदिक्खिय ॥ ३ ॥

(संस्कृतच्छाया)

तत्र ब्रह्मान्वये जातः सर्वलोकाभिपूजितः ।
महादयो महाप्रज्ञोऽभिरूपो मनोरमः ॥ १ ॥
सुमेधोनामा नाम्ना वेदसागरपारगः ।
कुमार आसीत् गुरूणां सोऽवसाने जिनाङ्कुरः ॥ २ ॥
राशिवर्धकामात्येन दर्शितममितं धनम् ।
अनेकशतगर्भेषु निहितं तदुदीक्ष्य ॥ ३ ॥

(हिन्दी-अनुवाद)

वहाँ ब्रह्मकुल में उत्पन्न, समस्त लोक के द्वारा पूजित भारी दया एवं प्रज्ञा से युक्त, सुन्दर, मनोरम तथा वेद रूपी सागर का पारङ्गत नाम से सुमेध नामक कुमार था । जिन होने के लिए अङ्कुररूप (उसने) गुरुओं (से शिक्षा लेने) के बाद सैकड़ों भीतरी कोठरियों में रखे हुए तथा राशि-वर्धक अमात्य द्वारा दिखाये गए असीमित धन को देखकर विचारा कि अहो मेरे पिता (-पितामह) आदि धन का

---

१. प्रस्तुत पद्यांश वनरतन मेधंकर द्वारा रचित जिनचरित (१३वीं शताब्दी) नामक काव्य-ग्रन्थ से उद्धृत किया गया है । जिनालंकार की भाँति जिनचरित की विषयवस्तु भी बुद्ध-जीवनी से सम्बन्धित है किन्तु यहाँ भगवान् बुद्ध के उपदेशों एवं उनके ४५ वर्षावासों का भी वर्णन मिलता है । ग्रन्थ पर अश्वघोष एवं कालिदास का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । इसकी कुछ पंक्तियों का महाभारत की पंक्तियों से साम्य है । इससे यह कहा जा सकता है कि जिनचरित के लेखक को संस्कृत-काव्यों का ज्ञान था और उस ज्ञान का उपयोग इस ग्रन्थ के लिखने में किया है । प्रस्तुत अंश में सुमेध द्वारा पूर्वजों की सम्पत्ति के त्याग का वर्णन किया गया है ।

धनसन्निचयं कत्वा अहो मय्हं पितादयो।
गता मासकमेकम्पि नेवादाय दिवं इति ॥ ४ ॥
संवेगमुपयातो व चिन्तेसीति गुणाकरो।
धनसारं इमं गय्ह गन्तुं युत्तन्ति मे पन ॥ ५ ॥
रहोगतो निसीदित्वा सुन्दरे निजमन्दिरे।
देहे दोसे उदिक्खन्तो ओवदन्तो पि अत्तनो ॥ ६ ॥
भेदनं तनुनो दुक्खं दुक्खो तस्सोदयो पि च।
जातिधम्मो जराधम्मो व्याधिधम्मो अहं इति ॥ ७ ॥
एवमादीभि देहस्मिं दिस्वा दोसे अनेकधा।
पुरे भेरीं चरापेत्वा आरोचेत्वान राजिनो ॥ ८ ॥

(संस्कृतच्छाया)

धनसन्निचयं कृत्वा अहो मम पित्रादयः।
गता माषकमेकमपि नैवाऽदाय दिवमिति ॥४॥
संवेगमुपयात इवाऽचिचिन्तद् गुणाकरः।
धनसारमिमं गृहीत्वा गन्तुं युक्तमिति मे पुनः ॥५॥
रहोगतो निषद्य सुन्दरे निजमन्दिरे।
देहे दोषानुदीक्षमाणोऽववदन्नपि आत्मनः ॥६॥
भेदनं तनोर्दुःखं दुःखं तस्योदयोऽपि च।
जातिधर्मा जराधर्मा व्याधिधर्माऽहमिति ॥७॥
एवमादिभिर्देहे दृष्ट्वा दोषाननेकधा।
पुरे भेरीं चारयित्वा आरोच्य राज्ञः ॥८॥

(हिन्दी-अनुवाद)

संग्रह कर एक माषक (परिमाण विशेष) लिये बिना ही स्वर्ग को चले गये ॥१-४॥

वैराग्य को प्राप्त गुणों के आकर (भण्डार) (उस सुमेध) ने विचारा कि 'लेकिन मेरे लिए इस उत्तम धन को लेकर जाना उचित है' ॥५॥

(फिर) अपने सुन्दर घर में अकेला बैठकर शरीर के दोषों को देखता हुआ तथा अपने को समझाता हुआ (विचारने लगा)—'शरीर का पृथक् होना (मरण) दुःख है तथा शरीर का उदय (जन्म) भी दुःख है, मैं जन्म, बुढ़ापा तथा बीमारी के गुणों से युक्त हूँ' ॥६-७॥

इस प्रकार नाना प्रकार से शरीर में दोषों का देखकर भेरी (डंका) बजवाकर

भेरीनादसुगन्धेन याचकालिसमागते ।
दानकिञ्जक्खओघेन सत्ताहं पीणयी ततो ॥ ९ ॥

दानग्गहिमविन्दूनं निपातेनापि धंसनं ।
अयातं तं विलोकेत्वा रतनम्बुजकाननं ॥ १० ॥

रुदतो ञातिसंघस्स जलितानलकानना ।
गजिन्दो विय गेहम्हा निक्खमित्वा मनोरमा ॥ ११ ॥

महन्तं सो महावीरो उपगञ्छि हिमालयं ।
हरिचन्दनकप्पूरगरुगन्धेहि वासितं ॥ १२ ॥

(संस्कृतच्छाया)

भेरीनादसुगन्धेन याचकालिसमागतान् ।
दानकिञ्जल्कौघेन सप्ताहमप्रैषीत् ततः ॥९॥

दानाग्रहिमविन्दूनां निपातेनाऽपि ध्वंसनम् ।
अयातं तद् विलोक्य रत्नाम्बुजकाननम् ॥१०॥

रुदतो ज्ञातृसङ्घस्य ज्वलितानलकाननात् ।
गजेन्द्र इव गेहाद् निष्क्रम्य मनोरमात् ॥११॥

महान्तं स महावीर उपागमद् हिमालयम् ।
हरिचन्दनकर्पूरागरुगन्धैर्वासितम् ॥१२॥

(हिन्दी-अनुवाद)

राजा से कह, भेरी के शब्द की सुगन्ध से आये हुए याचक रूपी भ्रमरों को दान रूपी कमल के किंजल्क के समूह से सात दिन सन्तुष्ट किया ॥८-९॥

किन्तु जब उत्तम दानरूपी तुषार-पात से नष्ट नहीं होने वाले रत्नरूपी कमलवन को देखा तो रोते हुए संबन्धियों के मनोरम घर से अग्नि से जलते हुए वन से गजराज की तरह निकलकर वह महावीर (सुमेध) हरिचन्दन (पीले चन्दन), कपूर की भारी (सु-) गन्ध से (सु-) वासित विशाल हिमालय पर चला गया ॥१०-१२॥

—०—

२८. दानमाहात्म्यम्[1]

पियो दानपति होति गिम्हकाले व अम्बुदो।
भुञ्जन्ति तं बहू सत्ता फलरुक्खं व अण्डजा ॥ १ ॥
कित्तिसद्दञ्च पप्पोति तिलोकमहितं हितं।
दायको ससराजा व नरिन्दोरिन्दमो विय ॥ २ ॥
नाथभूतो अनाथानं सब्बेसं पीतिवद्धनो।
सतञ्च सुखसंवासो सततं होति दायको ॥ ३ ॥

(संस्कृतच्छाया)

प्रियो दानपतिर्भवति ग्रीष्मकाले इवाऽम्बुदः।
भुञ्जते तं बहूनि सत्त्वानि फलवृक्षमिवाऽण्डजाः ॥१॥
कीर्तिशब्दश्च प्राप्नोति त्रिलोकमहितं हितम्।
दायकः शशराज इव नरेन्द्रोऽरिन्दम इव ॥२॥
नाथभूतोऽनाथानां सर्वेषां प्रीतिवर्धनः।
सताञ्च सुखसंवासः सततं भवति दायकः ॥३॥

(हिन्दी-अनुवाद)

दानपति ग्रीष्मकाल में मेघ की तरह प्रिय होता है। फल-वृक्ष को अण्डे से पैदा होने वाले प्राणियों की तरह उसका बहुत लोग उपयोग (या भोग) करते हैं ॥१॥

दायक शशराज तथा शत्रुओं का दमन करने वाले राजा की तरह कीर्तिशब्द को तथा तीनों लोकों में पूजे गये हित को प्राप्त करता है ॥२॥

दायक अनाथों के लिए नाथ के रूप में होता है, सब की प्रीति बढ़ाने वाला होता है तथा हमेशा सौ (गुने) सुख का सहवास होता है ॥३॥

---

[1] प्रस्तुत गाथायें सोमपिय द्वारा रचित सद्धम्मोपायन (१२-१३वीं शताब्दी) से उद्धृत की गयी हैं। इस ग्रन्थ में कुल ६२९ गाथायें है और उन गाथाओं में दुराचार के दुष्परिणाम तथा सदाचार के सुपरिणाम का ओजपूर्ण शैली में वर्णन किया गया है। यद्यपि इसका विषय गद्य ग्रन्थों में पहले से ही विद्यमान था किन्तु उसे काव्य रूप देने में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। इस पाठ में दान का माहात्म्य बताया गया है

सेट्ठो ति सम्मतो होति दुट्ठेहि च अधंसियो।
इट्ठदो ति मुदा लोको पहट्ठो तं उदिक्खति ॥ ४ ॥

यं यं दिसं दानपति रित्तहत्थो व गच्छति।
साभिसङ्खारिका तस्स सुलभा होन्ति पच्चया ॥ ५ ॥

सब्बानत्थावहे अत्थे अत्थिकानं ददं अहं।
आनिसंसोदधिप्पत्तो सफलं जीवितं मम ॥ ६ ॥

इच्चेवं सरमानो सो अत्तनो चागसम्पदं।
अतिहट्ठो उदग्गो व सदा जीवति दायको ॥ ७ ॥

यं हि दानपति दीनं याचकं समुपागतं।

(संस्कृतच्छाया)

श्रेष्ठ इति सम्मतो भवति दुष्टैश्चाऽध्वंसितः।
इष्टद इति मुदा लोकः प्रहृष्टस्तमुदीक्षते ॥४॥
यां यां दिशां दानपती रिक्तहस्त एव गच्छति।
साभिसंस्कारकास्तस्य सुलभा भवन्ति प्रत्ययाः ॥५॥
सर्वानर्थावहानर्थानर्थिकेभ्यो ददद‌हम्।
आनिशंसोदधिप्राप्तः सफलं जीवितं मम ॥६॥
इत्येवं स्मरन् स आत्मनः त्यागसम्पदम्।
अतिहृष्ट उदग्र इव सदा जीवति दायकः ॥७॥
यं हि दानपतिर्दीनं याचकं समुपागतम्।

(हिन्दी-अनुवाद)

(दायक) श्रेष्ठ माना जाता है, दुष्टों द्वारा अपमानित नहीं होता है। लोक उसको 'इष्ट को देने वाला है' इस प्रकार आनन्द एवं खुशी से देखता है ॥४॥

दानपति जिस-जिस दिशा में खाली हाथ ही जाता है, उसके लिए कार्य को पूर्ण करने वाले कारण आसानी से मिल जाते हैं ॥५॥

सभी प्रकार के अनर्थों से परिपूर्ण धन को चाहने वालों को देता हूँ मैंने प्रशंसा रूपी समुद्र को प्राप्त कर लिया है (और अब) मेरा जीवन सफल है ॥ ६ ॥

इस प्रकार अपने त्याग की सम्पदा को स्मरण करता हुआ वह अत्यन्त प्रसन्न एवं मनोहर दायक अपना सारा जीवन व्यतीत करता है ॥ ७ ॥

दानपति पास में आये हुए दीन याचक को हाथ में धन लिए हुए देखता है,

लद्धत्थं पस्सती हत्थं ततो किं विपुलं फलं ॥ ८ ॥

दीनस्स दानमासज्ज तुट्ठं इट्ठत्थसिद्धिया ।
सुफुल्लकमलोभासं दस्सनीयतरं मुखं ॥ ९ ॥

दाता दिस्वानुभवति लद्धासाधारणं सुखं ।

अलं दानफलं एतं नो चे पि परलोकियं ॥१०॥

सन्दिट्ठिकं दानफलं अनन्तं एवमादिकं ।
परलोकफलं तस्स को समत्थोवगाहितुं ॥११॥

(संस्कृतच्छाया)

लब्धार्थं पश्यति हस्तं ततः किं विपुलं फलम् ॥८॥

दीनस्य दानमासाद्य तुष्टं इष्टार्थसिद्धया ।
सुफुल्लकमलावभासं दर्शनीयतरं मुखम् ॥९॥

दाता दृष्ट्वा अनुभवति लब्धाऽसाधारणं सुखम् ।
अलं दानफलमेतद् नो चेदपि पारलौकिकम् ॥१०॥

सान्दृष्टिकं दानफलमनन्तमेवमादिकम्
परलोकफलं तस्य कः समर्थोऽवगाहितुम् ॥११॥

(हिन्दी-अनुवाद)

तो उससे बड़ा फल और क्या है ॥ ८ ॥

दान को प्राप्त कर इष्टार्थ सिद्धि से तुष्ट, फूले या सुविकसित कमल की तरह चमक से युक्त अधिक दर्शनीय दीन के मुख को देखकर दाता जिस असाधारण सुख का अनुभव करता है, यहीं दान का पर्याप्त फल है, यदि पारलौकिक फल न भी हो। इत्यादि प्रकार से इसी जन्म में दान के अनन्त फल हैं। (तो फिर) उस (दान) के परलोक फल को समझने के लिये कौन समर्थ है ॥ ९-११ ॥

———

२६. कर्म-परिपाकः[1]

देवासुरमनुस्सेसु हिंसायप्पायुको नरो ।
दीघायुको त्वहिंसाय तस्मा हिंसं विवज्जये ॥ १ ॥

कुट्ठक्खयजरुम्मादा ये (च) ञ्ञे रोगा पाणिनं ।
वधा-ताळन-बन्धेहि होन्ति ह तेसु जन्तुसु ॥ २ ॥

हारको यो परत्थानं न च किञ्चि पयच्छति ।
महता विरियेनापि धनं सो नाधिगच्छति ॥ ३ ॥

(संस्कृतच्छाया)

देवासुरमनुष्येषु हिंसया अल्पायुष्को नरः ।
दीर्घायुष्कस्त्वहिंसया तस्मात् हिंसां विवर्जयेत् ॥१॥

कुष्ठक्षयजरोन्मादा ये चान्ये रोगाः प्राणिनाम् ।
वध-ताडन-बन्धैः भवन्ति हि तेषु जन्तुषु ॥२॥

हारको यः परार्थानां न च किञ्चित् प्रयच्छति ।
महता वीर्येणापि धनं स नाधिगच्छति ॥३॥

(हिन्दी-अनुवाद)

मनुष्य हिंसा से देव, असुर तथा मनुष्यों में अल्पायु वाला होता है किन्तु अहिंसा से दीर्घायु वाला । इसलिए (वह) हिंसा छोड़ दे ॥ १ ॥

प्राणियों के लिए जो कुष्ठ, क्षय, जरा उन्माद और दूसरे रोग (होते हैं वे) निश्चित रूप से उन जीवों में वध, ताड़न एवं बन्ध (के फल) से होते हैं ॥ २ ॥

जो दूसरों के धन का चोर है, और कुछ भी (दान) नहीं देता है । वह बहुत ज्यादा उद्योग से भी धन को प्राप्त नहीं करता है ॥ ३ ॥

---

१. प्रस्तुत गाथायें पञ्चगतिदीपन (मनुस्सकण्ड) से उद्धृत की गई हैं । पञ्चगति-दीपन में कुल ११४ गाथायें है और उनमें पाँच गतियों का वर्णन है । किस अच्छे या बुरे काम से कौन सी अच्छी या बुरी गति मिलती है—यही इसका मुख्य विषय है । इसकी भाषा सरल एवं स्वाभाविक है तथा प्रसाद गुण से परिपूर्ण है । इस पाठ में मनुष्यों की विभिन्न अवस्थाओं के कारण बतलाये गये हैं ।

अदिन्नं धनमादाय दानानि च ददाति यो।
सो पेच्च धनवा हुत्वा पुन जायति निद्धनो ॥ ४ ॥

न हारको न दाता यो न हतिकपणो जनो।
किच्छेन महता दब्बं थिरं सो लभते धुवं ॥ ५ ॥

हारको न परत्थानं चागवा वीतमच्छरो।
अहारियं बहुं वित्तं इद्धं सो लभते नरो ॥ ६ ॥

परदारेसु संसट्ठं यो न वारेति मानसं।
सारज्जति चनङ्गेसु नारित्तं याति सो पुमा ॥ ७ ॥

(संस्कृतच्छाया)

अदत्तं धनमादाय दानानि च ददाति यः।
सः प्रेत्य धनवान् भूत्वा पुनर्जायते निर्धनः ॥४॥

न हारको न दाता यो न ह्यतिकृपणो जनः।
कृच्छ्रेण महता द्रव्यं स्थिरं स लभते ध्रुवम् ॥५॥

हारको न परार्थानां त्यागवान् वीतमत्सरः।
अहार्यं बहु वित्तमृद्धं स लभते नरः ॥६॥

परदारेषु संसृष्टं यो न वारयति मानसम्।
संरज्यते चानङ्गेषु नारीत्वं याति स पुमान् ॥७॥

(हिन्दी-अनुवाद)

जो मनुष्य विना दिये हुए धन को लेकर दान देता है, वह परलोक में धनवान् होकर पुनः निर्धन हो जाता है ॥ ४ ॥

जो मनुष्य न चोर है, न दाता है (और) न अधिक कंजूस है, वह कष्ट से धन को पाता है, किन्तु वह धन ध्रुव और स्थायी होता है ॥ ५ ॥

जो मनुष्य दूसरों के धन को न चुराने वाला, त्याग करने वाला तथा मात्सर्य से रहित होता है, वह मनुष्य ऋद्धिसम्पन्न नहीं चुराये जाने वाले बहुत अधिक धन को पाता है ॥६॥

जो दूसरों की स्त्रियों में अनुरक्तता को मन से नहीं छोड़ता है, (तथा) कामों में लिप्त रहता है वह पुरुष (अगले भव में) नारीपन को प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

यो तु सम्मा निवातङ्कं ब्रह्मचरियं निसेवति ।
तेजस्सी सुगुणो भोगी देवेहि पि सम्पूजितो ॥ ८ ॥

दळ्हस्सति असम्मूळ्हो विरतो मज्जपानतो ।
जायते सच्चवादी च यसस्सी सुखसंयुतो ॥ ९ ॥

भिन्नानमपि सत्तानं भेदन्नेव करोति यो ।
अभेज्जपरिवारो सो जायते थिरमानसो ॥ १० ॥

जळो विज्जासु मच्छेरो भवे मूगो पियाप्पियो ।
जायते बधिरो मूळ्हो हितवाक्यब्भुसूयको ॥ ११ ॥

(संस्कृतच्छाया)

यस्तु सम्यग् निवाताङ्कं ब्रह्मचर्यं निषेवते ।
तेजस्वी सुगुणो भोगी देवैरपि सम्पूजितः ॥८॥

दृढस्मृतिः असम्मूढो विरतो मद्यपानतः ।
जायते सत्यवादी च यशस्वी सुखसंयुतः ॥९॥

भिन्नानामपि सत्त्वानां भेदं नैव करोति यः ।
अभेद्यपरिवारः स जायते स्थिरमानसः ॥१०॥

जडो विद्यासु मत्सरो भवेद् मूकः प्रियाप्रियः ।
जायते बधिरो मूढो हितवाक्याभ्यसूचकः ॥११॥

(हिन्दी-अनुवाद)

जो सच्चे एकान्त ब्रह्मचर्य का सेवन करता है, वह तेजस्वी, अच्छे गुणों वाला भोगी देवताओं द्वारा भी पूजा जाता है ॥ ८ ॥

दृढ़ स्मृतिमान्, मूढ़ता से दूर, मद्यपान से विरत (व्यक्ति) सत्यवादी, यशस्वी तथा सुख से युक्त होता है ॥ ९ ॥

फूटे हुए प्राणियों में जो फूट को नहीं करता है वह स्थिर मन तथा अभेद्य परिवार वाला होता है ॥ १० ॥

ईर्ष्या करने वाला विद्याओं में मूर्ख होता है, प्रिय तथा अप्रिय—दोनों बोलने वाला गूंगा होता है, हित वाक्य से जलने वाला मूर्ख व्यक्ति बहिरा होता है ॥ ११ ॥

दुक्खं पापस्स पुञ्ञस्स सुखं मिस्सस्स मिस्सकं ।
ञेय्यं सदिसनिस्सन्दं कम्मानं सकलं फलं ॥१२॥

(संस्कृतच्छाया)

दुःखं पापस्य पुण्यस्य सुखं मिश्रस्य मिश्रकम् ।
ज्ञेयं सदृशनिष्यन्दं कर्मणां सकलं फलम् ॥१२॥

(हिन्दी-अनुवाद)

पाप का दुःख, पुण्य का सुख तथा पुण्य-पाप का सुख-दुःख—इस प्रकार सभी कर्मों के फल (कर्म के) समान रस वाले जानना चाहिए ।

———

३०. सुभाषितानि[1]

एकयामं सये राजा, द्वियामञ्चेव पण्डितो ।
घरावासो तियामञ्च, चतुयामञ्च याचको ॥ १ ॥

धनवा सुतवा राजा नदी वेज्जो तथा इमे ।
पञ्च यत्थ न विज्जन्ति न तत्थ दिवसं वसे ॥ ३ ॥

यस्मि पदेसे न मानो न पेमं न च बन्धवा ।
न च विज्जागमो कोचि न तत्थ दिवसं वसे ॥ ३ ॥

(संस्कृतच्छाया)

एकयामं स्वपेत् राजा द्वियामञ्चैव पण्डितः ।
गृहावासः त्रियामञ्च चतुर्यामञ्च याचकः ॥१॥
धनवान् श्रुतवान् राजा नदी वैद्यस्तथा इमे ।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते न तत्र दिवसं वसेत् ॥२॥
यस्मिन् प्रदेशे न मानो न प्रेम न च बान्धवाः ।
न च विद्यागमः कश्चित् न तत्र दिवसं वसेत् ॥३॥

(हिन्दी-अनुवाद)

राजा को एक पहर सोना चाहिए, पण्डित को दो पहर सोना चाहिए, घर में रहने वाले (गृहस्थ) को तीन पहर सोना चाहिए तथा भिखारी को चार पहर (पूरी रात) सोना चाहिए ॥ १ ॥

जहाँ पर धनवान्, विद्वान्, राजा, नदी तथा वैद्य—ये पाँच न हों वहाँ पर (एक) दिन (भी) नहीं रहना चाहिए ॥ २ ॥

जिस प्रदेश में न मान है, न प्रेम है, न बन्धु (निकट-सम्बन्धी) हैं और न विद्या की प्राप्ति है, वहाँ एक दिन भी नहीं रहना चाहिए ॥ ३ ॥

प्रस्तुत गाथायें बरमा के प्रसिद्ध विद्वान् चतुरङ्गबल (१५वीं शताब्दी) द्वारा रचित लोकनीति (राजकण्ड) से उद्धृत की गई हैं । पालि साहित्य में नीति शास्त्रों के अभाव की पूर्ति हेतु लेखक ने नीति शतक (चाणक्य) आदि अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध परम्परागत नीति वाक्यों को पालि भाषा में परिवर्तित करके इस ग्रन्थ की रचना की है ।

अपुत्तकं घरं सुञ्ञं, रट्ठं सुञ्ञं अराजकं।
असिप्पस्स मुखं सुञ्ञं सब्बसुञ्ञं दलिद्दतं ॥ ४ ॥

नट्ठो यति असन्तुट्ठो, सन्तुट्ठो च महीपति।
सलज्जा गणिकानट्ठा, निल्लज्जा कुलधीतिका ॥ ५ ॥

पक्खीनं बलमाकासे मच्छानमुदके बलं।
दुब्बलस्स बलं राजा कुमारानं रुदं बलं ॥ ६ ॥

सकिं वदन्ति राजानो सकिं समणब्राह्मणा।
सकिं सप्पुरिसा लोके एस धम्मो सनन्तनो ॥ ७ ॥

बहवो यत्थ नेत्तारो सब्बे पण्डितमानिनो।

(संस्कृतच्छाया)

अपुत्रकं गृहं शून्यं राष्ट्रं शून्यम् अराजकम्।
अशिल्पस्य मुखं शून्यं सर्वशून्यं दरिद्रत्वम् ॥४॥

नष्टो यतिरसन्तुष्टः सन्तुष्टश्च महीपतिः।
सलज्जा गणिका नष्टा निर्लज्जा कुलदुहितृका ॥५॥

पक्षिणां बलमाकाशे मत्स्यानामुदके बलम्।
दुर्बलस्य बलं राजा कुमाराणां रोदनं बलम् ॥६॥

सकृद् वदन्ति राजानः सकृद् श्रमणब्राह्मणाः।
सकृत् सत्पुरुषा लोके एष धर्मः सनातनः ॥७॥
बहवो यत्र नेतारः सर्वे पण्डितमानिनः।

(हिन्दी-अनुवाद)

बिना पुत्र के घर शून्य है, बिना राजा के राष्ट्र शून्य है, बिना शिल्प वाले का मुख शून्य है तथा दरिद्रता सर्व (पूर्ण) शून्य है ॥ ४ ॥

असन्तुष्ट योगी नष्ट हो जाता है, सन्तुष्ट राजा नष्ट हो जाता है, लजीली वेश्या नष्ट हो जाती है (तथा) बेशरम कुल-कन्या नष्ट हो जाती है ॥ ५ ॥

पक्षियों का बल आकाश में होता है, मछलियों का बल पानी में होता है, दुर्बल का बल राजा है (तथा) बच्चों का बल रोना है ॥ ६ ॥

संसार में राजा एक बार कहते हैं, श्रमण-ब्राह्मण एक बार कहते हैं (तथा) सज्जन एक बार कहते हैं—यह सनातन (नित्य) धर्म है ॥ ७ ॥

जहाँ बहुत-से नेता होते हैं, सभी अपने को पण्डित मानने वाले होते हैं (तथा)

सब्बे महन्तमिच्छन्ति तेसं कम्मं विनस्सति ॥ ८ ॥
पिट्ठितोक्कं निसेवेय्य कुच्छिना व हुतासनं ।
सामिकं सब्बभावेन परलोकं अमोहकं ॥ ९ ॥
अग्गि आपो इत्थि मूळ्हो सप्पो राजकुलानि च ।
अपयन्तेन गन्तब्बं पच्चेकं पाणहारको ॥ १० ॥
दुट्ठभरियाय संवासो पदुट्ठचित्तदासको ।
ससप्पो च घरे वासो मच्चु एव न संसयो ॥ ११ ॥
मूळ्हसिस्सोपदेसेन कुनारीभरनेन च ।
असतं सप्पयोगेन पण्डितोप्यवसीदति ॥ १२ ॥

(संस्कृतच्छाया)

सर्वे महान्तमिच्छन्ति तेषां कर्म विनश्यति ॥ ८ ॥
पृष्ठतोऽर्कं निषेवेत कुक्षिनैव हुताशनम् ।
स्वामिकं सर्वभावेन परलोकममोहकम् ॥ ९ ॥
अग्निरापः स्त्री मूढः सर्पो राजकुलानि च ।
अपयाता गन्तव्यं प्रत्येकं प्राणहारकः ॥ १० ॥
दुष्टभार्यया संवासः प्रदुष्टचित्तदासकः ।
ससर्पश्च गृहे वासः मृत्युरेव न संशयः ॥ ११ ॥
मूढशिष्योपदेशेन कुनारीभरणेन च ।
असतां सम्प्रयोगेन पण्डितोऽप्यवसीदति ॥ १२ ॥

(हिन्दी-अनुवाद)

सभी बड़प्पन चाहते हैं, उनका कार्य नष्ट हो जाता है ॥ ८ ॥

सूर्य को पीठ (पीछे) से सेवन करे, अग्नि को पेट (आगे) से सेवन करे, स्वामी को सभी तरह से सेवन करे (तथा) परलोक को मोह रहित (मार्ग) से सेवन करे ॥९॥

अग्नि, जल, स्त्री, मूर्ख, सर्प तथा राजकुलों को छोड़कर जाना चाहिए (क्योंकि इनमें से) प्रत्येक प्राणों का हरण करने वाला है ॥ १० ॥

दुष्ट औरत के साथ संवास, प्रदुष्ट चित्त से युक्त दास वाला, घर में सर्प के साथ रहना—ये मृत्यु ही हैं इसमें सन्देह नहीं ॥ ११ ॥

मूर्ख शिष्य को (दिये गये) उपदेश से, दुष्ट स्त्री को पालने से (तथा) दुर्जनों के सम्पर्क से पण्डित व्यक्ति भी दुःखी होता है ॥ १२ ॥

———

वंश-साहित्य[1]

३१. अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितम्[2]

उम्मादचित्तायाणत्ता दासी आदाय दारकं ।
समुग्गे पक्खिपित्वान द्वारमण्डलकं अगा ॥ १ ॥

(संस्कृतच्छाया)

उन्मादचित्रयाज्ञप्ता दासो आदाय दारकम् ।
समुद्गे प्रक्षिप्य द्वारमण्डलकमगात् ॥१॥

(हिन्दी-अनुवाद)

उन्माद चित्रा की आज्ञानुसार दासी बच्चे को एक टोकरी में रखकर द्वारमण्डलक (गाँव) को गई ।। १ ।।

---

१. पालि साहित्य में त्रिपिटक एवं उसकी अट्ठकथाओं के अतिरिक्त जो वाङ्मय हैं उसमें वंश-साहित्य का अपना स्थान है । इसकी तुलना संस्कृत के 'पुराण-इतिहास' से की जा सकती है । इतना अवश्य उल्लेखनीय हैं कि 'पुराण-इतिहास' से 'वंश-साहित्य' का ऐतिहासिक महत्त्व अपेक्षाकृत अधिक है । बौद्ध भिक्षु केवल त्रिपिटक एवं उसकी अट्ठकथाओं की सुरक्षा में ही सतर्क नहीं थे अपितु उन्होंने बौद्ध संघ से सम्बन्धित इतिहास को भी सुरक्षित रखने का प्रयास किया । इस इतिहास सम्बन्धी विवरण में, जिसमें वंश-साहित्य का प्रमुख स्थान है, भिक्षुओं ने न केवल श्रीलंका को भारत से सम्बन्धित किया अपितु उन्होंने श्रीलंका का सम्बन्ध भगवान् बुद्ध से भी जोड़ा है । साथ ही वंश-साहित्य में यत्र-तत्र अतिरंजनामय एवं अलौकिक वर्णन भी हैं । फिर भी इतिहास-निर्माण में वंश-साहित्य से पर्याप्त सहायता ली जा सकती है । वंश-साहित्य के ग्रन्थों में उपलब्ध कालानुक्रम पाश्चात्य ऐतिहासिक ग्रन्थों के कालानुक्रम से किसी भी तरह कम नहीं हैं ।

२. प्रस्तुत गाथायें महानाम द्वारा रचित 'महावंस' (पाँचवीं शताब्दी) से उद्धृत को गई है । भाषा एवं शैली की दृष्टि से महावंस पालि का श्रेष्ठ वंश-ग्रन्थ है । इसमें ई० पू० पाँचवीं शताब्दी से ईसा की चौथी शताब्दी तक का लेखा है । पाण्डुवासुदेव की पुत्री चित्रा को देखकर मंत्र-परम्परागत ब्राह्मणों ने भविष्यवाणी की थी कि इसका लड़का राज्य के लिए अपने मामों की हत्या करेगा । फलतः चित्रा के भाई उसके पुत्र को मारने का प्रयास करते हैं किन्तु वह सुरक्षित रहता है । इस वर्णन से कृष्ण एवं कंस की कहानी याद आ जाती है ।

राजपुत्ता च मिगवं गता तुम्बरकन्दरे।
दिस्वा दासिं 'कुहिं यासि ? किमेतं ?' ति च पुच्छिसुं ॥ २ ॥

'द्वारमण्डलकं यामि धीतु मे गुळपूवकं'।
इच्चाह 'आरोपेही' ति राजपुत्ता तमब्रवुं ॥ ३ ॥

चित्तो च काळवेलो च तस्सारक्खाय निग्गता।
महन्तं सूकरं तेसं तं खणं येव दस्सयुं ॥ ४ ॥

ते तं समनुबन्धिसु, सा तमादाय तत्र गा।
दारकञ्च सहस्सञ्च आयुत्तस्स अदा रहो ॥ ५ ॥

(संस्कृतच्छाया)

राजपुत्राश्च मृगव्यं गता तुम्बरकन्दरे।
दृष्ट्वा दासीं 'कुत्र यासि ? किमेतत्' इति चाप्राक्षुः ॥२॥

'द्वारमण्डलकं यामि दुहितुर्मे गुडापूपकम्'।
इत्याह 'अवरोपय' इति राजपुत्राः तामब्रुवन् ॥३॥

चित्रश्च कालवेलश्च तस्य आरक्षायै निर्गतौ।
महान्तं शूकरं तेभ्यः तत् क्षणमेवादीदृशताम् ॥४॥

ते तं समन्वभान्त्सुः सा तमादाय तत्रागात्।
दारकञ्च सहस्रञ्च आयुक्तायादात् रहः ॥५॥

(हिन्दी-अनुवाद)

राजपुत्र तुम्बर कन्दर वन में शिकार खेलने गये थे। (उन्होंने) दासी को देखकर पूछा—कहाँ जाती है ? यह क्या है ? ॥ २ ॥

वह बोली—द्वार मण्डलक को जाती हूँ और इसमें बेटी के लिए गुड़ के पुए हैं। राजकुमारों ने कहा—उतारो ॥ ३ ॥

उस (बच्चे) की रक्षा के लिए चित्र और कालवेल (दोनों यक्षों) ने उसी क्षण एक बड़ा भारी सूअर उनके लिए निकला दिखाया ॥ ४ ॥

उन (राजकुमारों) ने उस (सूअर) का पीछा किया, वह (दासी) उस (बच्चे) को लेकर चल दी। वहाँ पहुँचकर उसने एकान्त में बालक तथा हजार (मुद्रा) नियुक्त आदमी को दिये ॥ ५ ॥

तस्मि येव दिने तस्स भरिया जनयी सुतं।
'यमके जनयी पुत्ते भरिया मे' ति पोसि तं॥ ६॥

सो सत्तवस्सिको चापि तं विजानिय मातुला।
हन्तुं सरसि कीळन्ते दारके च पयोजयुं॥ ७॥

जलट्ठं रुक्खसुसिरं जलच्छादितछिद्दकं।
निमुज्जमानो छिद्देन पविसित्वा चिरट्ठितो॥ ८॥

ततो तथेव निक्खम्म कुमारो सेसदारके।
उपेच्च पुच्छियन्तो पि वञ्चेतञ्ञे वचोहि सो॥ ९॥

मनुस्सेहागताहे सो निवासेत्वान वत्थकं।

(संस्कृतच्छाया)

तस्मिन्नेव दिने तस्य भार्या अजीजनत् सुतम्।
'यमकौ अजीजनत् पुत्रौ भार्या मे' इत्यपुषत् तम्॥६॥

स सप्तवार्षिकश्चापि तं विज्ञाय मातुलाः।
हन्तुं सरसि क्रीडतः दारकान् च प्रायूयुजन्॥७॥

जलस्थं वृक्षशुषिरं जलाच्छादितछिद्रकम्।
निमज्जन् छिद्रेण प्रविश्य चिरस्थितः॥८॥

तथा तथैव निष्क्रम्य कुमारोऽशेषदारकान्।
उपेत्य पृच्छ्यमाणोऽपि वञ्चयतेऽन्यान् वचोभिः सः॥९॥

मनुष्याणामिहाऽगतानामहनि स निवस्य वस्त्रकम्।

(हिन्दी अनुवाद)

उसी दिन उसकी स्त्री को बच्चा हुआ। 'मेरी स्त्री को जुड़वा पुत्र हुए हैं' इस प्रकार (प्रसिद्ध कर) उस (बालक) को पाला॥ ६॥

जब वह सात वर्ष का हुआ तब मामों ने उसे जानकर तालाब में खेलते हुए (सभी) बालकों को मारने के लिए (अपने आदमियों को) नियुक्त किया॥ ७॥

वह बालक डुबकी लगाकर एक जल में स्थित वृक्ष की जल से ढकी हुई पोल में प्रविष्ट होकर वहीं देरतक ठहरा रहता था॥ ८॥

फिर उसी तरह (डुबकी लगाकर) बाहर आने पर जब और बालक उससे पूछते थे, तो वह उनको और बातें कह कर बहला देता था॥ ९॥

मनुष्यों के आने के दिन वह कुमार (अपने) वस्त्रों को पहिनकर पानी में प्रविष्ट

कुमारो वारिमोग्गय्ह सुसिरम्हि ठितो अहु ॥१०॥

वत्थकानि गणेत्वा ते मारेत्वा सेसदारके ।
गन्त्वा आरोचयुं 'सब्बे दारका मारितो' इति ॥११॥

गतेसु तेसु सो गन्त्वा आयुत्तकघरं सकं ।
वसं अस्सासितो तेन अहु द्वादसवस्सिको ॥१२॥

पुन सुत्वान जीवन्तं कुमारं तस्स मातुला ।
तत्थ गोपालके सब्बे मारेतुं सन्नियोजयुं ॥१३॥

तस्मि अहनि गोपाला लद्धा एकं चतुप्पदं ।
अग्गिं आहरितुं गामं पेसेसुं तं कुमारकं ॥१४॥

(संस्कृतच्छाया)

कुमारो वारि अवगाह्य शुषिरे स्थितोऽभूत् ॥१०॥

वस्त्रकानि गणयित्वा तान् मारयित्वा अशेषदारकान् ।
गत्वा आरोचिषत् 'सर्वे दारका मारिता' इति ॥११॥

गतेषु तेषु स गत्वा आयुक्तकगृहं स्वकम् ।
वसन् आश्वासितस्तेनाभूद् द्वादशवार्षिकः ॥१२॥

पुनः श्रुत्वा जीवन्तं कुमारं तस्य मातुलाः ।
तत्र गोपालकान् सर्वान् मारयितुं सन्न्ययूयुजन् ॥१३॥

तस्मिन्नहनि गोपाला लब्ध्वा एकं चतुष्पदम् ।
अग्निमाहर्तुं ग्रामं प्रैषिषन् तं कुमारकम् ॥१४॥

(हिन्दी-अनुवाद)

हो पोल में जाकर छिप गया ॥ १० ॥

वस्त्रों की गिनती कर बाकी सब बालकों को मारकर (राजा को) जाकर उन्होंने कहा—सब बालक मार डाले गये ॥ ११ ॥

उनके चले जाने पर वह (कुमार) अपने पालने वाले के घर जाकर उससे आश्वासित हो रहता हुआ बारह वर्ष का हो गया ॥ १२ ॥

कुमार को जीवित सुन उसके मामों ने फिर वहाँ सब ग्वालों को मार डालने को (अपने आदमियों के लिए) नियुक्त किया ॥ १३ ॥

उसी दिन उन ग्वालों ने एक चतुष्पाद (शिकार) को पाकर उस कुमार को आग लाने के लिए गाँव में भेजा ॥ १४ ॥

सो गन्त्वा घरमायुत्तपुत्तकं येव पेसयि ।
'पादा रुजन्ति मे, नेहि अग्गिं गोपालसन्तिकं ।।१५।।
तत्थ अङ्गारमंसञ्च खादिस्ससि तुवं' इति ।
नेसि तं वचो सुत्वा अग्गिं गोपालसन्तिकं ।।१६।।
तस्मिं खणे पेसिता ते परिक्खिपिय मारयुं ।
सब्बे गोपे, मारयित्वा मातुलानं निवेदयुं ।।१७।।

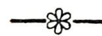
(संस्कृतच्छाया)

स गत्वा गृहमायुक्तपुत्रकमेव प्रैषिषत् ।
'पादौ रुजतो मे नयाग्निं गोपालान्तिकम् ।।१५।।
तत्राङ्गारमांसञ्च खादिष्यसि त्वमिति ।
अनैषीत् स तत् वचः श्रुत्वाग्निं गोपालान्तिकम् ।।१६।।
तस्मिन्नेव क्षणे प्रेषितास्ते परिक्षिप्य अमीमरन् ।
सर्वान् गोपान्, मारयित्वा मातुलेभ्यः न्यवीविदन् ।।१७।।

(हिन्दी-अनुवाद)

घर जाकर उसने अपने पालने वाले के लड़के को ही (यह कहकर) भेज दिया कि 'मेरे पैर दुखते हैं, ग्वालों के पास अग्नि ले जाओ । वहाँ तुम अङ्गार पर भुने हुए मांस को खाओगे ।' उसके वचन सुनकर वह ग्वालों के पास आग ले गया ।। १५-१६ ।।

उसी क्षण भेजे गये उन (आदमियों) ने सब ग्वालों को घेर कर (मार डाला और) मारकर मामों से (जाकर) निवेदन किया ।



३२. बुद्ध-निर्घोष:[1]

ततो सो सरदकालनिम्मलचन्दमण्डलो विय जननयनचेतोरसायनो सुकतसतसुविहितबहुविधलक्खणानुव्यञ्जनपतिमण्डितदेहो पसादावनतानेकसतसहस्सब्रह्मसुरासुरोरगकिन्नरनरमोळिमालालङ्कतचरणयुगलो पसादविम्हयापुण्णबुधविबुधमनुजसताभिगीयमानथुतिवचनो सरदरजनीकरसहस्सरंसिमपहासकन्तितेजो कुलिससहस्सदुल्लभसारभावो गगनतलनिब्बिकारो सलिलनिधिगम्भीरो

(संस्कृतच्छाया)

ततः सः शरत्कालनिर्मलचन्द्रमण्डल इव जननयनचेतोरसायनः सुकृतशतसुविहितबहुविधलक्षणानुव्यञ्जनप्रतिमण्डितदेहः प्रसादावनतानेकशतसहस्रब्रह्मसुरासुरोरगकिन्नरनरमौलिमालालङ्कृतचरणयुगलः प्रसादविस्मयापूर्णबुधविबुधमनुजशताभिगीयमानस्तुतिवचनः शरद्रजनीकरसहस्ररश्म्यपहासकान्तितेजाः कुलिशसहस्रदुर्लभसारभावो गगनतलनिर्विकारः सलिलनिधिगम्भीरः

(हिन्दी-अनुवाद)

तदनन्तर उस (सिद्धार्थ) ने पूर्व दिशा को देखते हुए वहाँ एक (स्पष्ट) आँगन के रूप में अनेक हजारों चक्रवालों के किनारों को देखा। वह (सिद्धार्थ) शरत् कालीन निर्मल चन्द्र-मण्डल की तरह था, मनुष्यों के नेत्रों एवं चित्तों को रसायन था, उसका शरीर अच्छी तरह से निर्मित सैकड़ों नाना लक्षणों एवं उपलक्षणों से सुशोभित था, उसका चरण-युगल प्रसन्नता से झुके हुए हजारों ब्रह्मा, सुर, असुर, उरग, किन्नर एवं मनुष्यों के मुकुट-समूह से अलंकृत था, उसकी प्रसन्नता एवं आश्चर्य से परिपूर्ण सैकड़ों निपुण देव एवं मनुष्यों द्वारा स्तुति की जा रही थी, उसका सौन्दर्य तेज शरत्-कालीन चन्द्रमा की हजारों किरणों के सौन्दर्य को तिरस्कृत कर रहा था, उसकी दृढ़ता हजारों वज्रों में भी दुर्लभ थी, वह आकाश की तरह निर्विकार तथा समुद्र की तरह गंभीर

१. प्रस्तुत गद्यांश सिंहली भिक्षु उपतिस्स (उपतिष्य) द्वारा रचित महाबोधिवंस (११वीं शताब्दी) से उद्धृत किया गया है। महाबोधिवंस में अनुराधपुर में आरोपित बोधि वृक्ष की कथा है। इसकी विषय-वस्तु प्राचीन स्रोतों पर आधारित है। महाबोधिवंस की भाषा एवं शैली पर संस्कृत गद्य महाकाव्य 'कादम्बरी' का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उद्धृत अंश में भगवान् बुद्ध द्वारा जन्म लेते ही किये गये 'मैं लोक में श्रेष्ठ हूँ' इस सिंहनाद का काव्यात्मक वर्णन है।

सम्पत्तसकलपारमितामहण्णवपारो कारुञ्ञमिव देहबद्धो, अभिनीहारातिसयपरिपाकलाभी कुसलसम्भारभरितसन्तानविसेसो आवासो व गुणानं, निवासो व धम्मसरीरस्स, दिवसकरो व मोहन्धकारविधमनस्स, चक्खुरिव सब्बलोकस्स, पवाहो व करुणारसस्स, सन्तरणसेतु विय संसारसिन्धुस्स, आधारो व करुणाजलस्स, सागरो सन्तोसामतस्स, उपदेसको सिद्धिमग्गस्स, नाभि पञ्ञाचक्कस्स, उट्ठानवंसो धम्मद्धजस्स, फरसु तण्हालतागहनस्स, वळवानलो लोभअण्णवस्स, महामन्तो कोधभुजङ्गमस्स, दावानलो रागपल्लवस्स, पभवो पुञ्ञसञ्चयस्स पुरत्थिमं दिसमोलोकेन्तो तत्थ एकङ्गणानि अनेकचक्कवाळकोटिसहस्सानि दिस्वा एवं दसदिसमनुविलोकेन्तो अत्तना सममधिकमेकपुग्गलम्पि अदिस्वा

(संस्कृतच्छाया)

सम्प्राप्तसकलपारमितामहार्णवपारः कारुण्यमिव देहबद्धोऽभिनीहारातिशयपरिपाकलाभी कुशलसम्भारभरितसन्तानविशेषः, आवास इव गुणानां, निवास इव धर्मशरीरस्य, दिवसकर इव मोहान्धकारविधमनस्य, चक्षुरिव सर्वलोकस्य, प्रवाह इव करुणारसस्य, सन्तरणसेतुरिव संसारसिन्धोः, आधार इव करुणाजलस्य, सागरः सन्तोषामृतस्य, उपदेशकः सिद्धिमार्गस्य, नाभिः प्रज्ञाचक्रस्य उत्थानवंशो धर्मध्वजस्य, परशुः तृष्णालतागहनस्य, वडवानलो लोभार्णवस्य, महामन्त्रः क्रोधभुजङ्गमस्य, दावानलो रागपल्लवस्य, प्रभवः पुण्यसञ्चयस्य पौरस्त्यां दिशमवलोकयन् तत्र एकाङ्गनानि अनेकचक्रवालकोटिसहस्राणि दृष्ट्वा एवं दशदिशमनुविलोकयन् आत्मनः सममधिकमेकपुद्गलमपि अदृष्ट्वा उत्तराभि-

(हिन्दी-अनुवाद)

था, उसने समस्त पारमिताओं रूपी समुद्र को पार कर लिया था, वह देह को धारण करने वाली दयालुता की तरह था, उसने दृढ़ संकल्प रूपी श्रेष्ठ फल को प्राप्त कर लिया था, वह पुण्य की सामग्री से भरे हुए चित्तविशेष से युक्त था। वह गुणों के आवास (घर), धर्म रूपी शरीर के निवास, मोह-रूपी अन्धकार को दूर करने के लिए सूर्य, समस्त लोक के नेत्र, करुणा रूपी रस के प्रवाह, संसारसमुद्र के पुल, (तथा) करुणा जल के आधार के समान था। वह सन्तोषामृत का समुद्र, सिद्धि मार्ग का उपदेशक, प्रज्ञा-चक्र की नाभि, धर्म रूपी झंडे का डंडा, तृष्णा रूपी घनी लता को फरसा, लोभ रूपी समुद्र को बड़वानल, क्रोध रूपी सर्प के लिए महामन्त्र, राग रूपी पल्लव के लिए दावानल, पुण्य समूह की उत्पत्ति रूप था। (इस प्रकार की विशेषताओं से युक्त उस सिद्धार्थ ने अनेक हजारों चक्रवालों के चरम भाग को) देखकर दस दिशाओं को देखता हुआ अपने समान या अपने से अच्छे एक भी मनुष्य को न देख नवीन नीर

उत्तराभिमुखो ब्रह्मुना सेतच्छत्तं धारियमानो सुयामविबुधाधिपेन वालवीजनिया वीजियमानो तेन तेन देवराजेन रतनखचितमङ्गलखग्गं कनकपादुकं दिब्बमय-मुण्हीसं गहेत्वा परिवारितो तदहुजातो पि सोळसवस्सिको विय, नग्गो पि कासिकवत्थनिवत्थो विय, अनलङ्कतो पि चक्कवत्तिअलङ्कारेण अलङ्कतो विय, भूमिया गच्छन्तो पि आकासेन गच्छन्तो विय सकललोकस्स पञ्ञायन्तो सत्तपदवीतिहारेन गन्त्वा विजम्भमानो कमलकोसपरिमलमनोहरेण सहजाता-मोदेन सकलभुवनतलं परिवासेन्तो नवनीरभारगम्भीरजलधरधनिनिभं सधीरं गिरं निच्छारेत्वा 'अग्गोहमस्मि लोकस्सा' ति सब्बजिनवरचारितमुत्तमसीह-नादमकासि।

(संस्कृतच्छाया)

मुखो ब्रह्मा श्वेतच्छत्रं धार्यमाणः सुयामविबुधाधिपेन बालवीजनेन वीज्य-मानः, तेन तेन देवराजेन रत्नखचितमङ्गलखड्गं कनकपादुकां दिव्यमयोष्णीषं गृहीत्वा परिवारितः, तदहोजातोऽपि षोडशवार्षिक इव, नग्नोऽपि काशिकवस्त्र-निवस्त इव, अनलङ्कृतोऽपि चक्रवर्त्यलङ्कारेणालङ्कृत इव, भूम्यां गच्छन्नपि आकाशेन गच्छन्निव, सर्वलोकाय प्रज्ञापयन् सप्तपदव्यतिहारेण गत्वा विजृम्भ-माणः कमलकोशपरिमलमनोहरेण सहजातामोदेन सकलभुवनतलं परिवासयन् नवनीरभारगम्भीरजलधरध्वनिनिभां धीरां गिरं निश्चार्य 'अग्रोऽहमस्मि लोकस्य' इति सर्वजिनवरचारितमुत्तमसिंहनादमकार्षीत्।

(हिन्दी-अनुवाद)

के भार से गम्भीर मेघ की ध्वनि के समान धीरता से युक्त वाणी को (मुख से) निकालते हुए 'मैं लोक में अग्र (श्रेष्ठ) हूँ' इस प्रकार समस्त जिनवरों के द्वारा किये गये उत्तम सिंहनाद को किया। (उस समय उसके लिये) ब्रह्मा सफेद छत्र धारण किये हुये थे, सुयाम देवों के राजा बालों से बने पंखे से हवा कर रहे थे, तत् तत् देवराज रत्न-जड़ित मङ्गलखड्ग, स्वर्ण-पादुका तथा दिव्य मुकुट लेकर (उसे) घेरे हुये थे। वह नवजात होते हुए भी सोलह वर्ष के समान प्रतीत हो रहा था, नग्न होते हुए भी काशी के बने वस्त्र पहिने हुए-जैसा था, अलङ्कृत न होते हुए भी चक्रवर्ती के अलंकारों से अलङ्कृत-जैसा था, भूमि पर चलते हुए भी आकाश में चलते हुए-जैसा था। समस्त लोक को प्रज्ञा-सी प्रदान करते हुए उसने सात कदम चलकर जम्हाई ली जिससे (वह) कमल के भीतर की मनोहर सुगन्ध के समान फैलने वाली सुगन्ध से समस्त लोक को सुगन्धित कर रहा था।

—०—

३३. पूज्यस्य सम्माननम्[1]

नरपति गुहसीवो तं मुनिन्दस्स धातुं
सकपुरमुपनेत्वा साधु सम्मानयन्तो ।
सुगतिगमनमग्गे पाणिनो योजयन्तो
सुचरितमभिरूपं सञ्चिनन्तो विहासि ॥ १ ॥

अगणितमहिमस्सुज्जेनिरञ्ञो तनूजो
पुरिमवयसि येवारद्धसद्धाभियोगो ।

(संस्कृतच्छाया)

नरपतिः गुहसीवः तं मुनीन्द्रस्य धातुं
स्वकपुरमुपनीय साधु सम्मानयन् ।
सुगतिगमनमार्गे प्राणिनो योजयन्
सुचरितमभिरूपं सञ्चिन्वन् व्यहार्षीत् ॥१॥

अगणितमहिम्नः उज्जयिनी-राजस्य तनूजः
पूर्ववयसि एव आरब्धश्रद्धाभियोगः ।

(हिन्दी-अनुवाद)

राजा गुहसीव मुनीन्द्र (बुद्ध) की उस (शरीर-) धातु को अपने नगर में लाकर ठीक से (उसका) सम्मान करता हुआ, प्राणियों को सुगति-गमन में कारणभूत मार्ग में लगाता हुआ तथा सुन्दर सुचरित्र से (पुण्य को) इकट्ठा करता हुआ रहने लगा ॥ १ ॥

असीमित महिमा वाले उज्जैनी के राजा का दन्तकुमार नामक पुत्र, जिसने थोड़ी ही उम्र में दृढ़ श्रद्धा को प्राप्त कर लिया था, दशबल (बुद्ध) की शरीर-धातु को

---

१. प्रस्तुत गाथायें सिंहली भिक्षु धम्मकित्ति महाथेर (महास्थविर धर्मकीर्ति) द्वारा रचित 'दाठावंस' (१३वीं शताब्दी) से उद्धृत की गई हैं। दाठावंस में बुद्ध की दन्त-धातु की कथा है। कलिंग के राजकुमार द्वारा लंका में बुद्ध के दाँतों का लाया जाना, लंका में कीर्तिश्री मेघवर्ण द्वारा उनका आदरपूर्वक ग्रहण करना तथा अनुराधपुर में लंका के राजा, भिक्षुसंघ एवं उपासकों द्वारा उनकी पूजा आदि इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु है।

दसबलतनुधातुं पूजितुं तस्स रञ्ञो
पुरवरमुपयातो दन्तनामो कुमारो ॥ २ ॥

गुणजनितपसादं तं कलिङ्गाधिनाथं
निखिलगुणनिवासो सो कुमारो करित्वा ।
विविधमहविधानं साधु सम्पादयन्तो
अवसि सुगतधातुं अन्वहं वन्दमानो ॥३॥

अभवि च गुहसीवस्सावनीसस्स धीता
विकचकुवलयक्खी हंसकन्ताभियाता ।
वदनजितसरोजा हारिधम्मिल्लभारा
कुचभरनमितङ्गी हेममालाभिधाना ॥४॥

(संस्कृतच्छाया)

दशबलतनुधातुं पूजयितुं तस्य राज्ञः
पुरवरमुपयातो दन्तनामा कुमारः ॥२॥

गुणजनितप्रसादं तं कलिङ्गाधिनाथं
निखिलगुणनिवासः स कुमारः कृत्वा ।
विविधमहाविधानं साधु सम्पादयन्
अवात्सीत् सुगतधातुमन्वहं वन्दमानः ॥३॥

अभूच्च गुहसीवस्याऽवनीशस्य दुहिता
विकचकुवलयाक्षी हंसकान्ताऽभियाता ।
वदनसितसरोजा हारिधम्मिल्लभारा
कुचभरनमिताङ्गी हेममालाऽभिधाना ॥४॥

(हिन्दी-अनुवाद)

पूजने के लिए उस राजा के नगर में आया ॥ २ ॥

सम्पूर्ण गुणों का निवासभूत वह कुमार कलिङ्ग के उस राजा को अपने गुणों से प्रसन्न करके नाना उत्तम विधानों को ठीक से करता हुआ, प्रतिदिन सुगति की (शरीर-) धातु को पूजता हुआ रहने लगा ॥ ३ ॥

गुहसीव राजा की विकसित नीलकमल जैसी आँखों वाली, हंस के समान सुन्दर चाल वाली, कमल को भी मात करने वाले मुख वाली, सुन्दर बालों के जूड़ा वाली, भारी कुचों से झुके हुए शरीर वाली हेममाला नाम की कन्या थी ॥ ४ ॥

अखिलगुणनिधानं बन्धुभावानुरूपं
सुविमलकुलजातं तं कुमारं विदित्वा ।
नरपति गुहसीवो अत्तनो धीतरं तं
अददि सबहुमानं राजपुत्तस्स तस्स ॥५॥

मनुजपति कुमारं धातुरक्खाधिकारे
पचुरपरिजनं तं सब्बथा योजयित्वा ।
गवमहिससहस्सादीहि सम्पीणयित्वा
सकविभवसरिक्खे इस्सरत्ते ठपेसि ॥६॥

(संस्कृतच्छाया)

अखिलगुणनिधानं बन्धुभावानुरूपं
सुविमलकुलजातं तं कुमारं विदित्वा ।
नरपतिः गुहसीव आत्मनो दुहितरं ताम्
अदात् सबहुमानं राजपुत्राय तस्मै ॥५॥

मनुजपतिः कुमारं धातुरक्षाधिकारे
प्रचुरपरिजनं तं सर्वथा योजयित्वा ।
गोमहिषसहस्रादिभिः सम्प्रीण्य
स्वकविभवसदृक्ष ईश्वरत्वेऽतिष्ठिपत् ॥६॥

(हिन्दी-अनुवाद)

सम्पूर्ण गुणों के निधानरूप तथा बन्धु के स्वभाव के अनुरूप उस कुमार को अत्यन्त विमल कुल में उत्पन्न जानकर उस राज-पुत्र के लिए राजा गुहसीव ने अपनी कन्या को अत्यन्त सम्मान के साथ दे दिया ॥ ५ ॥

राजा ने पूर्णरूप से धातु की रक्षा के अधिकार में प्रचुर परिजन युक्त उस कुमार को नियुक्त कर हजारों गाय-भैंस आदि से (देकर) प्रसन्न कर अपने विभव के अनुरूप प्रभुत्व में लगा दिया ॥ ६ ॥

———

३४. राजधर्मः[1]

ततो कताभिसेको सो परक्कन्तमहीपति ।
सपञ्ञो इति चिन्तेसि पवरो अत्थदस्सिनं ॥१॥
लोकसासनसंवुद्धिविधानविमुखेहि तु ।
छन्दा दोसा भया मोहा यन्तेहि अगतिं भुसं ॥२॥
अबद्धकरगाहादिमहादुक्खविधायिहि ।
पुब्बराजूहि लोकोयं पीळितो बहुसो पुरा ॥३॥

(संस्कृतच्छाया)

ततः कृताभिषेकः स पराक्रान्तमहीपतिः ।
सप्रज्ञ इत्यचिचिन्तत् प्रवरोऽर्थदर्शिनाम् ॥१॥
लोकशासनसंवृद्धिविधानविमुखैस्तु ।
छन्दाद् दोषाद् भयाद् मोहाद् यद्भिरगतिं भृशम् ॥२॥
अबद्धकरग्राहादिमहादुःखविधायिभिः ।
पूर्वराजैर्लोकोऽयं पीडितो बहुशः पुरा ॥३॥

(हिन्दी-अनुवाद)

तब (राज्य-) अभिषिक्त, लाभ देखने वालों में श्रेष्ठ उस बुद्धिमान् पराक्रान्त राजा ने इस प्रकार विचारा ॥ १ ॥

लोकशासन की समृद्धि करने से विमुख, राग, द्वेष, भय तथा मोह से प्रायः बुरी गति को जाने वाले, बन्धन-हीन कर-ग्रहण आदि महादुःखों को देने वाले पुराने राजाओं के द्वारा यह देश पहले से बहुत अधिक पीडित है ॥ २-३ ॥

१. प्रस्तुत गाथायें चुल्लवंस (७३वें परिच्छेद) से ली गई हैं । महावंस ३७वें परिच्छेद की ५०वीं गाथा पर समाप्त हो जाता है तथा उसमें महासेन के शासन-काल तक का इतिहास आता है । उसके बाद का लंका का क्रमबद्ध इतिहास भी इसी ग्रन्थ के परिवर्द्धित अंश के रूप में बाद में उसके साथ ही जोड़ दिया गया । इस परिवर्द्धित अंश का नाम चुल्लवंस है । इसमें महावंस के आगे १९३५ ई० तक का लंका का इतिहास है । यह परिवर्द्धित अंश पाँच भिन्न भिन्न लेखकों द्वारा भिन्न भिन्न काल में लिखा गया है । प्रस्तुत अंश धम्मकित्ति (धर्मकीर्ति) द्वारा तेरहवीं शताब्दी के मध्य में लिखा गया है । इसमें पराक्रमबाहु प्रथम (१२४०-१२७५) के शासन काल का वर्णन है ।

यथा सुखी भवेय्याथ सासनं च महेसिनो ।
दुल्लद्धिसतमिस्सत्ता चिरं आविलतं गतं ॥४॥
निकायत्तयभेदेन भिन्नं नेकेहि भिक्खुहि ।
कुच्छिपूरणकिच्चेहि अलज्जीहि समोसटं ॥५॥
पञ्चवस्ससहस्सेसु अनतीतेसु येव च ।
हानभागियतं यातं यथास्सद्धनियं ति च ॥६॥
यं वा महाकुलीनानं विनट्ठानं तहिं तहिं ।
ठपेत्वा व यथाठाने यथाविधि च पालनं ॥७॥
यं वा दानमहावस्सं वस्सापेन्तो निरन्तरं ।
चातुद्दीपकमेघो व पोसेय्यं याचके ति च ॥८॥

(संस्कृतच्छाया)

यथा सुखी भवेत् शासनञ्च महर्षेः ।
दुर्लब्धिशतमिश्रत्वाच्चिरमाविलतां गतम् ॥४॥
निकायत्रयभेदेन भिन्नमनेकैर्भिक्षुभिः ।
कुक्षिपूरणकृत्यैरलज्जैः समवसृतम् ॥५॥
पञ्चवर्षसहस्रेषु अनतीतेषु एव च ।
हानभागीयत्वं यातं स्यादध्वनीनमिति च ॥६॥
यद्वा महाकुलीनानां विनष्टानां तत्र तत्र ।
स्थापयित्वा एव यथास्थाने यथाविधि च पालनम् ॥७॥
यद्वा दानमहावर्षं वर्षयन् निरन्तरम् ।
चातुर्द्वीपिकमेघ इव पोषयेयम् याचकानिति च ॥८॥

(हिन्दी-अनुवाद)

जिस प्रकार (आगे का जन-समूह) सुखी हो तथा सैकड़ों मिथ्या दृष्टियों के मिलने के कारण बहुत समय से दूषित, तीन निकायों के भेद से विभक्त, उदर-भरण करने वाले अनेक लज्जाहीन भिक्षुओं से व्याप्त, पाँच हजार वर्ष बीतने के पहले ही बढ़ती हुई हानि को प्राप्त महर्षि का शासन (बौद्धधर्म) जैसे चिरस्थायी हो ॥ ४-६ ॥

उसके लिए महा विनष्ट कुलीन लोगों के लिए वहाँ-वहाँ यथास्थान रखकर (उनका) यथाविधि पालन करूँ ॥ ७ ॥

जो दान-रूपी महावर्षा है उसे निरन्तर वर्षाता हुआ चारों द्वीपों के मेघों की तरह याचकों का पालन करूँ ॥ ८ ॥

विधातुं दानि कालोयं तं यथाभिच्छित इति ।
ठानन्तरारहानं हि ठानन्तरं अदासि सो ॥९॥

ततो भेरिं चरापेत्वा सन्निपातिय याचके ।
तुलाभारमहादानं अनुवस्सं पदापयि ॥१०॥

(संस्कृतच्छाया)

विधातुमिदानीं कालोऽयं तं यथाभीप्सितमिति ।
स्थानान्तरार्हाणां हि स्थानान्तरमदात् सः ॥९॥

ततो भेरीं चारयित्वा सन्निपात्य याचकान् ।
तुलाभारमहादानं अनुवर्षं प्रादीदपत् ॥१०॥

(हिन्दी-अनुवाद)

उस (कठिनाई से प्राप्त राज्य) को इच्छानुसार बनाने के लिए अब यह समय है। (ऐसा विचार कर) उसने तत्तत् पदों के योग्य व्यक्तियों को (तत्तद्) पद दिये। तत्पश्चात् डुग्गी फिरवा कर याचकों को इकट्ठा करा प्रत्येक वर्ष (अपनी) तौल के वजन के बराबर भारी दान करवाता था ॥ ९-१० ॥

———

३५. अपूर्वो दण्डः[1]

'सीहळभासक्खरेहि परिवत्तितं परियत्तिसासनं मागधभासक्खरेन को नाम पुग्गलो परिवत्तितुं सक्खिस्सती' ति महाथेरा निमन्तयित्वा तावतिंसभवनं गन्त्वा घोसं नाम देवपुत्तं दिस्वा सद्धिं सक्केन देवानं इन्देन तं याचित्वा बोधिरुक्खसमीपे घोसगामे केसस्स नाम ब्राह्मणस्स केसिया नाम ब्राह्मणिया कुच्छिम्हि पटिसंधिं गण्हापेसुं। 'खादथ भोन्तो, पिवथ भोन्तो' ति आदि ब्राह्मणानं अञ्ञमञ्ञं घोसकाले विजायनत्ता 'घोसो' ति नामं अकासि।

(संस्कृतच्छाया)

'सिंहलभाषाक्षरैः परिवर्तितं पर्याप्तिशासनं मागधभाषाक्षरेण को नाम पुद्गलः परिवर्तयितुं शक्ष्यति' इति महास्थविरा निमन्त्र्य त्रयस्त्रिंशभवनं गत्वा घोषं नाम देवपुत्रं दृष्ट्वा सार्धं शक्रेण देवानामिन्द्रेण तं याचित्वा बोधिवृक्ष-समीपे घोषग्रामे केशस्य नाम्नो ब्राह्मणस्य केश्या नाम्न्या ब्राह्मण्याः कुक्षौ प्रतिसन्धिमजिग्रहन्। 'खादत भोः! पिबत भोः! इत्यादि ब्राह्मणानामन्योन्यं घोषकाले विजननत्वाद् 'घोष' इति नाम अकार्षीत्।

(हिन्दी-अनुवाद)

'सिंहली भाषा एवं लिपि में परिवर्तित उपदेशों (के सार) को मागधी भाषा एवं लिपि में बदलने के लिए कौन व्यक्ति समर्थ है' इस प्रकार (विचार कर) महास्थविरों को बुलाकर त्रायस्त्रिंश भवन जाकर घोष नामक देवपुत्र को देख देवताओं के इन्द्र शक्र के साथ उससे प्रार्थना कर बोधिवृक्ष के पास घोष ग्राम में केश नामक ब्राह्मण की केशी नामक ब्राह्मणी की कोख में जन्म ग्रहण कराया। 'अरे खाओ अरे पिओ' इत्यादि ब्राह्मणों के एक दूसरे के प्रति शब्द करते समय पैदा होने से 'घोष' यह नाम रखा गया (हुआ)।

---

१. प्रस्तुत पद्यांश बर्मी भिक्षु पञ्ञसामी (प्रज्ञास्वामी) द्वारा रचित सासनवंस (शासन-वंश) से उद्धृत किया गया है। इस ग्रन्थ की रचना उन्नीसवीं शताब्दी में बरमा में हुई। इसमें बुद्ध-काल से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक के बुद्ध-शासन का इतिहास है। उद्धृत गद्यांश में सिंहली भाषा एवं लिपि में विद्यमान त्रिपिटक को पालि भाषा में परिवर्तित करने के लिए आचार्य बुद्धघोष को श्रीलंका भेजने का वर्णन है।

सत्तवस्सिककाले सो तिण्णं वेदानं पारगू अहोसि। अथ खो एकेन अरहन्तेन सद्धिं वेदकथं सल्लपन्तो नं कथं निट्ठापेत्वा, 'कुसला धम्मा अकुसला धम्मा अव्याकता धम्मा' ति आदिना परमत्थं वेदं नाम बुद्धमन्तं पुच्छि। तदा सो तं सुत्वा उग्गण्हितुकामो हुत्वा तस्स अरहतस्स सन्तिके पब्बजित्वा देवसिकं देवसिकं पिटकत्तयं सट्ठिमत्तेहि पदसहस्सेहि सज्झायं अकासि, वाचुग्गतं अकासि। एकमासेनेव तिण्णं पिटकानं पारगू अहोसि। ततो पच्छा रहो एकको व निसिन्नस्स एतदहोसि—'बुद्धभासिते पिटकत्तये मम वा पञ्ञा अधिका उदाहु उपज्झायस्स वा' तं कारणं ञत्वा उपज्झाचरियो निग्गहं कत्वा ओवदि। संवेगपत्तो हुत्वा खमापेतुं वन्दि। उपज्झाचरियो—'त्वं, आवुसो, सीहळदीपं गन्त्वा पिटकत्तयं सीहळभासक्खरेन लिखितं मागधभासक्खरेन

(संस्कृतच्छाया)

सप्तवार्षिककाले स त्रयाणां वेदानां पारगोऽभूत्। अथ खलु एकेनार्हता सार्धं वेदकथां संल्लपन् तां कथां निष्ठाय 'कुशला धर्माः, अकुशला धर्माः, अव्याकृता धर्माः' इत्यादिना परमार्थं वेदं नाम बुद्धिमन्तमप्राक्षीत्। तदा स तं श्रुत्वा उद्ग्रहीतुकामो भूत्वा तस्यार्हतोऽन्तिके प्रव्रज्य दैवसिकं दैवसिकं पिटकत्रयं षष्टिमात्रैः पदसहस्रैः स्वाध्यायमकार्षीत्; वागुद्गतमकार्षीत्। एकमासेनैव त्रयाणां पिटकानां पारगोऽभूत्। ततः पश्चाद् रहः एककस्य एव निषण्णस्य एतदभूत्—बुद्धभाषिते पिटकत्रये मम वा प्रज्ञा अधिका उताहो उपाध्यायस्य वा' इति ? तत्कारणं ज्ञात्वा उपाध्या(या)चार्यो निग्रहं कृत्वा अवावादीत्। स संवेगप्राप्तो

(हिन्दी-अनुवाद)

सात वर्ष की अवस्था में वह तीनों वेदों में पारङ्गत हो गया। तब एक अर्हत् के साथ वेद-वार्ता करता हुआ उस चर्चा को समाप्त कराकर 'कुशल धर्म, अकुशल धर्म अव्याकृत धर्म इत्यादि के द्वारा बुद्धिमान् से वेद के परमार्थ को पूछा। तब वह उसको सुनकर ग्रहण करने की इच्छा वाला होकर उस अर्हत् के पास प्रव्रजित होकर प्रत्येक दिन तीनों पिटकों का साठ हजार पदों के द्वारा स्वाध्याय करता था, (स्वाध्याय) गाता हुआ करता था। एक मास में ही तीनों पिटकों में पारङ्गत हो गया। उसके बाद एकान्त में अकेले बैठे हुए उसके लिए ऐसा (मन में विचार) हुआ—बुद्ध के द्वारा कहे गये तीनों पिटकों में मेरी बुद्धि अधिक है या उपाध्याय की। उस बात को जानकर उपाध्याय ने पकड़ कर डाँटा। वह भय से पीडित होकर क्षमा कराने के लिए वन्दना

लिखाहि। एवं सति अहं खमिस्सामी' ति आह। बुद्धघोसो च पितरं मिच्छादिट्ठिभावतो मोचेत्वा आचरियस्स वचनं सिरसा पटिग्गहेत्वा पिटकत्तयं लिखितुं सीहळदीपं नावाय अगमासि।

(संस्कृतच्छाया)

भूत्वा क्षमापयितुमवन्दिष्ट। उपाध्या(या)चार्यः 'त्वं, आयुष्मन्! सिंहलद्वीपं गत्वा पिटकत्रयं सिंहलभाषाक्षरेण लिखितं मागधभाषाक्षरेण लिख। एवं सति अहं क्षमिष्ये' इत्यवोचत्। बुद्धघोषश्च पितरं मिथ्यादृष्टिभावतो मोचयित्वा आचार्यस्य वचनं शिरसा प्रतिगृह्य पिटकत्रयं लिखितुं सिंहलद्वीपं नावा अगमत्।

(हिन्दी-अनुवाद)

करने लगा। उपाध्यायाचार्य ने कहा—आवुस तुम सिंहलद्वीप जाकर सिंहलभाषा एवं लिपि में लिखे तीनों पिटकों को मागधी भाषा और लिपि में लिखो। ऐसा हो जाने पर मैं क्षमा कर दूँगा। बुद्धघोष अपने पिता को मिथ्या दृष्टि के भाव (स्वभाव) से मुक्त कराकर आचार्य के वचन को शिरोधार्य कर तीनों पिटकों को लिखने के लिए नाव से सिंहलद्वीप को गये।

३६. सुगते भक्तिः[1]

एकस्मि किर समये अम्हाकं भगवा राजगहे विहरति वेळुवने कलन्दकनिवापे। तत्रापि खो भगवा चतुन्नं परिसानं धम्मं देसेसि आदिकल्याणं मज्झेकल्याणं परियोसानकल्याणं सत्थं सब्यञ्जनं केवलपरिपुण्णं। तेन खो पन समयेन अनुरुद्धो सोभितो पदुमुत्तरो गुणसागरो ञाणपण्डितो रेवतो ति छ खीणासवा एकच्छन्दा हुत्वा येन भगवा तेनुपसङ्कमिसु, उपसङ्कमित्वा भगवन्तं अभिवादेत्वा एकमन्तं निसीदिंसु। एकमन्तं निसिन्ना खो ते खीणासवा भिक्खू भगवन्तं एतदवोचुं—न हि भन्ते भगवता समतिंसपारमियो पूरेन्तेन एकदेससत्तहितत्थं पूरिता,

(संस्कृतच्छाया)

एकस्मिन् किल समये अस्माकं भगवान् राजगृहे विहरति वेणुवने कलन्दकनिवापे। तत्रापि खलु भगवान् चतसृणां परिषदां धर्ममदिक्षत्—आदिकल्याणं, मध्येकल्याणं पर्यवसानकल्याणं सार्थं सव्यञ्जनं केवलपरिपूर्णम्। तस्मिन् खलु पुनः समये अनुरुद्धः, शोभितः, पद्मोत्तरः, गुणसागरः, ज्ञानपण्डितः, रेवतः इति षट् क्षीणास्रवा एकच्छन्दा भूत्वा यत्र भगवान् तत्रोपसमक्रमिषुः। उपसङ्क्रम्य भगवन्तमभिवाद्य एकान्तं न्यसीदन्। एकान्तं निषण्णाः खलु ते क्षीणास्रवाः भिक्षवः भगवन्तमेतदवोचन्—'न हि भदन्त ! भगवता समत्रिंश-

(हिन्दी-अनुवाद)

एक समय हमारे भगवान् राजगृह में वेणुवन के कलन्दकनिवाप में विहार कर रहे थे। वहाँ भी भगवान् ने चारों परिषदों के लिए आदिकल्याण से युक्त, मध्यकल्याण से युक्त, अन्तकल्याण से युक्त, सार्थ, सुस्पष्ट, एकदम परिपूर्ण धर्म का उपदेश दिया। उस समय अनुरुद्ध, शोभित, पद्मोत्तर, गुणसागर, ज्ञानपण्डित तथा रेवत—ये छः क्षीणास्रव एक-सी इच्छावाले होकर जहाँ भगवान् थे, वहाँ गये, जाकर भगवान् को नमस्कार कर एक ओर बैठ गये। एक ओर बैठे हुए उन क्षीणास्रव भिक्षुओं ने भगवान् से ऐसा कहा—भन्ते ! समस्त तीस पारमिताओं को पूर्ण करने वाले भगवान् के द्वारा (वे) न केवल

---

१. प्रस्तुत गद्यांश बरमी भिक्षु (जिसके नाम का पता नहीं है) द्वारा रचित छकेसधातुवंस (१९वीं शताब्दी) से उद्धृत किया गया है। इस ग्रन्थ में भगवान् बुद्ध के छः केशों के ऊपर बनाये गये स्तूपों का वर्णन है। उद्धृत गद्यांश में भगवान् बुद्ध द्वारा छः भिक्षुओं को सिर के छः केश देने का वर्णन है।

अथ खो सब्बसत्तहितत्थं कत्तुकामेन पूरिता। ये केचि भन्ते सत्ता आसन्नट्ठा तेसं तव दस्सनेन उभयत्थ सिद्धा ये चञ्ञे सत्ता दूरट्ठा होन्ति तेसं अत्थाय भगवतो सरीरपटिबद्धं पूजनीयवत्थुं ठपेतब्बं। महासमुद्दस्स पन भन्ते अविदूरे एकस्मिं पच्चन्तदेसे बहुजना वसन्ति। तेसं अनुकम्पाय पूजनीयं दातुं वट्टति। अथ खो भगवा तेसं वचनं सुत्वा महाकरुणाय समुस्साहितचित्तो हुत्वा जनपदवासीनं हितकरणत्थं दक्खिणेन हत्थेन सीसं परामसति, सीसं परामसित्वा हेमवण्ण-रंसीहि विजोतमाना छ केसा भगवतो हत्थे लग्गिसु। अथ खो भगवा तेसं छन्नं अरहन्तानं अदासि। तेपि खो तुट्ठमानहट्ठा अत्तनो सिरसा व सम्पटिच्छिसु। तदा आयस्मा आनन्दो भगवन्तं पुच्छि—'किं, भन्ते, तस्मिं जनपदे सत्तानं

(संस्कृतच्छाया)

त्पारमीः पूरयता एकदेशसत्त्वहितार्थं पूरिताः, अथ खलु सर्वसत्त्वहितार्थं कर्तुकामेन पूरिताः। यानि कानिचिद् भदन्त! सत्त्वानि आसन्नस्थानानि तेषां तव दर्शनेन उभयत्र सिद्धानि; यानि चान्यानि दूरस्थानि भवन्ति तेषामर्थाय भगवतः शरीरप्रतिबद्धं पूजनीयवस्तु स्थापयितव्यम्। महासमुद्रस्य पुनः भदन्त! अविदूरे एकस्मिन् प्रत्यन्तदेशे बहुजना वसन्ति। तेषामनुकम्पायै पूजनीयं दातुं वर्तते।' अथ खलु भगवान् तेषां वचनं श्रुत्वा महाकरुणया समुत्साहित-चित्तो भूत्वा जनपदवासिनां हितकरणार्थं दक्षिणहस्तेन शिरः परामृशति; शिरः परामृश्य हेमवर्णरश्मिभिर्विद्योतमानाः षट् केशाः भगवतो हस्तेऽलगिषुः। अथ खलु भगवान् तेभ्यः षड्भ्योऽर्हद्भ्योऽदात्। तेऽपि खलु तुष्यमानहृष्टाः आत्मनः शिरसा सम्प्रत्यैषिषुः। तदा आयुष्मान् आनन्दो भगवन्तमप्राक्षीत्—'किं भदन्त।

(हिन्दी-अनुवाद)

कुछ ही प्राणियों के हित के लिए पूर्ण की गई हैं, अपितु समस्त प्राणियों के हित को करने की इच्छा से पूर्ण की गई हैं। भन्ते! जो कोई प्राणी (आपके) पास स्थिर हैं उनके दोनों भव आपके दर्शन से ही सिद्ध हैं किन्तु जो अन्य प्राणी दूर हैं उनके लिए भगवान् के शरीर में लगी हुई पूजनीय वस्तु रखना चाहिये। भन्ते! महा समुद्र के पास एक सीमान्त देश में बहुत से मनुष्य रहते हैं। उनपर कृपा (करने) के लिए पूजनीय वस्तु देना अच्छा है। तब भगवान् ने उनके कथन को सुनकर महा-करुणा से उत्साहित चित्त वाले होकर देशवासियों का हित करने के लिए दाहिने हाथ से सिर को छुआ, सिर को छूकर (छूने से) स्वर्ण वर्ण की किरणों जैसे चमकते हुए छः बाल भगवान् के हाथ में लग गये। तब भगवान् ने (वे बाल) उन छः अर्हतों को दिये। उन्होंने भी सन्तुष्ट एवं प्रसन्न मन से अपने सिर झुका कर स्वीकार किए। तब आयुष्मान् आनन्द

अन्तरायो भगवतो धातुयो निस्साय भविस्सती' ति ? 'न पस्सामि, आनन्द, तस्मि जनपदे सत्तानं परिहानिं, वुड्ढिमेव पस्सामी' ति आह। 'मम परिनिब्बानतो हि, आनन्द, पञ्चवस्ससहस्सानि मम सासनं पतिट्ठितं भविस्सति इमे छ केसधातुयो पञ्चसताधिकद्विसहस्सवस्सानि रक्खिता भविस्सन्ति।

(संस्कृतच्छाया)

तस्मिन् जनपदे सत्त्वानामन्तरायो भगवतो धातून् निश्रित्य भविष्यति ?' इति। 'न पश्यामि, आनन्द ! तस्मिन् जनपदे सत्त्वानां परिहानिं, वृद्धिमेव पश्यामि'— 'मम परिनिर्वाणतो हि आनन्द ! पञ्चवर्षसहस्राणि मम शासनं प्रतिष्ठितं भविष्यति; इमे षट् केशधातवः पञ्चशताधिकद्विसहस्रवर्षाणि रक्षिता भविष्यन्ति।'

(हिन्दी-अनुवाद)

ने भगवान् से पूछा—भन्ते ! क्या उन जनपद के जीवों का भगवान् की धातु को लेकर अन्तराय (बाधा) होगा ? 'आनन्द ! उस जनपद के प्राणियों की हानि को नहीं देखता हूँ, वृद्धि को ही देखता हुँ' इस प्रकार (भगवान् ने) कहा। 'आनन्द मेरे परिनिर्वाण से पाँच हजार वर्ष (तक) मेरा शासन स्थापित रहेगा। ये छः केश-धातुयें पच्चीस सौ वर्ष तक रक्षित रहेंगी'।

—०—